

अथ प्रथमोऽध्यायः



अर्जुनविषादयोग

(कुरुक्षेत्र के युद्धप्रांगण में सैन्यनिरीक्षण)

धृतराष्ट्र उवाच ।

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।

मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥१॥

अनुवाद

धृतराष्ट्र ने कहा, हे संजय ! धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में एकत्र होकर युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया? ॥१॥

तात्पर्य

श्रीमद्भगवद्गीता वस्तुतः व्यापक स्तर पर पठित भागवत-विद्या है, जो गीता माहात्म्य में साररूप से समाहित है। वहाँ उल्लेख है कि कृष्णभक्त के आश्रय में ही गीता का मनोयोग से अध्ययन करना चाहिए और इस प्रकार स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आवरण से मुक्त उसका यथार्थ तात्पर्य समझना चाहिए। भगवद्गीता के उस विशुद्ध ज्ञान का उदाहरण स्वयं भगवद्गीता में है। गीता की उसी भाँति

हृदयेगम करना है, जिस प्रकार अर्जुन ने साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण से सुन कर उसे धारण किया। यथार्थ में भाग्यशाली वही है, जो उसी शिष्य-परम्परा में स्वार्थप्रेरित मनमाने अर्थों के आरोप से मुक्त गीता का विशुद्ध ज्ञान अर्जित करता है। ऐसा भाग्यवान् वैदिक ज्ञान एवं विश्व के अन्य सभी शास्त्रों के स्वाध्याय का लघन कर जाता है। गीता के अध्ययन से अन्य शास्त्रों का मर्म तो जाना जाता ही है, इसके अतिरिक्त, गीता में पाठक को वह तत्त्व भी प्राप्त है, जो अन्य किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं है। यही गीता का अतुलनीय वैशिष्ट्य है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द की वाणी होने के कारण गीता पूर्ण भागवत विद्या है।

महाभारत में वर्णित धृतराष्ट्र और सञ्जय का वार्तालाप इस महान् दर्शन का उपोद्घात है। यह सर्वविदित ही है कि इस दर्शन की अवतारणा कुरुक्षेत्र के युद्ध-प्रागण में हुई, जो वैदिक युग के आदि-काल से पवित्र तीर्थस्थान माना जाता है। पृथ्वी पर अपने अवतरणकाल में भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव कल्याण के लिए इस कथामृत का प्रवचन किया।

धर्मक्षेत्र शब्द सारगर्भित है, क्योंकि कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के पक्ष में भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं उपस्थित हैं। अपने पुत्र कौरवों की विजय के विषय में धृतराष्ट्र बड़ा सदिग्ध था। अतः सन्देह-निवारण के लिए उसके अपने सचिव सञ्जय से जिज्ञासा की, 'मेरे तथा पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया?' वह जानता था कि उसके पुत्र तथा अनुज पाण्डु के पुत्र कुरुक्षेत्र की रणभूमि में निर्णयात्मक युद्ध के लिए एकत्रित हुए हैं। फिर भी, उसकी जिज्ञासा तात्पर्ययुक्त है। धृतराष्ट्र नहीं चाहता कि उसके पुत्रों और भतीजों में सन्धि हो। वह तो केवल युद्धस्थल में मघर्ष के लिए सन्नद्ध अपने पुत्रों की कुशल के विषय में आश्वस्त होना चाहता था। युद्ध का आयोजन कुरुक्षेत्र में हुआ था, जिसे वेदों में देवोचित तीर्थस्थान कहा गया है। इस कारण, युद्ध के परिणाम पर उस शाश्वत् पवित्र स्थान का क्या प्रभाव होगा, इस आशका से धृतराष्ट्र भयभीत हो गया। वह जानता था कि इसका प्रभाव अर्जुन आदि पाण्डवों के अनुकूल होगा, क्योंकि वे स्वभाव से ही सदाचारी थे। सञ्जय श्रीवेदव्यासजी का शिष्य था। उनके अनुग्रह से धृतराष्ट्र के कक्ष में बैठे-बैठे उसे कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि का दर्शन हो सका। अतएव धृतराष्ट्र ने युद्ध-स्थिति के सम्बन्ध में उसीमे जिज्ञासा की।

पाण्डव एवं धृतराष्ट्र-पुत्र, दोनों एक ही कुल की सन्तान हैं। परन्तु धृतराष्ट्र के वाक्य से उसका मनोभाव प्रकट होता है। उसने जान-बूझकर केवल अपने पुत्रों को कुरुवशी कहकर पाण्डवों को कौटुम्बिक उत्तराधिकार से वंचित किया है। इस प्रकार

अपने भतीजे पाण्डवों के सम्बन्ध में धृतराष्ट्र का दुर्भाव स्पष्ट है। जिस प्रकार धान के खेत से खर-पतवार को निकाल कर फैंक दिया जाता है, उस के अनुरूप इस कथा के उपक्रम से ही यह आशा है कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में, जहाँ धर्म के जन्मदाता भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं विराजमान हैं, धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधन आदि का नाश होगा और युधिष्ठिर आदि धर्म-परायण जनो को श्रीकृष्ण स्वयं स्थापित करेंगे। धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र शब्दों के ऐतिहासिक और वैदिक अर्थ से विशिष्ट यह उनका गूढ़ तात्पर्य है।

सज्जय उवाच ।

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।

आचार्यपुपमगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

अनुवाद

सजय ने कहा, हे राजन् ! उस समय पाण्डवों की ज्यूहरचना-युक्त सेना को देखकर राजा दुर्योधन ने गुरु द्रोणाचार्य के निकट जाकर यह वाक्य कहा ॥२॥

तात्पर्य

धृतराष्ट्र जन्मान्ध तो था ही, दुर्भाग्यवश, आध्यात्मिक-दृष्टि से भी वंचित था। वह जानता था कि उसके पुत्र धर्म के विषय में उसी के समान दृष्टिहीन हैं। इसलिए उसे विश्वास था कि वे जन्मजात पुण्यात्मा पाण्डवों से सन्धि कदापि नहीं करेंगे। फिर भी, उसे तीर्थस्थान के प्रभाव का सन्देह था। उसकी युद्ध विषयक जिज्ञासा के इस अभिप्राय को सजय समझ गया। अतः हताश राजा को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से सजय ने यह चेतावनी दी कि उसके पुत्र पवित्र स्थल के प्रभाव में आकर सन्धि नहीं करने वाले हैं। उसने धृतराष्ट्र को यह भी बताया कि उसका पुत्र दुर्योधन पाण्डवों की सैन्यमञ्जा को देख कर तत्काल अपने मेनानायक द्रोणाचार्य को यथार्थ स्थिति से अवगत कराने गया। यद्यपि दुर्योधन को 'राजा' सम्बोधित किया गया है, पर स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए वह स्वयं सेनापति के निकट जाने को बाध्य हो गया। स्पष्ट रूप से दुर्योधन योग्य कूटनीतिज्ञ था, पर उसका कपटपूर्ण राजनीतिक शिष्टाचार उस भय का गोपन नहीं कर सका, जो उसे पाण्डवों के सैन्यव्यूह को देख कर प्राप्त हुआ।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।

व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

अनुवाद

हे आचार्य ! अपने बुद्धिमान् शिष्य, द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार रचित पाण्डवों की इस महान् सेना का अवलोकन कीजिए ।।३।।

तात्पर्य

कुशल राजनीतिज्ञ दुर्योधन ब्राह्मणश्रेष्ठ सेनाधिपति द्रोणाचार्य के दोषों को इंगित करना चाहता था । अर्जुन के श्वसुर (द्रौपदी के पिता) राजा द्रुपद और द्रोण में परस्पर राजनीतिक द्वेष था । इस कारण द्रुपद ने एक महायज्ञ का आयोजन करके द्रोणाचार्य का वध करने में समर्थ पुत्र की उत्पत्ति का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया । द्रोण यह भलीभाँति जानते थे, पर फिर भी जब द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न युद्ध-शिक्षा के लिए उनकी शरण में आया तो उदार विप्र द्रोण ने उस पर अपने सम्पूर्ण युद्ध-ग्रहस्य उद्घाटित करने में तनिक भी सकोच नहीं किया । अब, कुरुक्षेत्र के युद्ध में धृष्टद्युम्न ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया एवं द्रोणाचार्य से प्राप्त विद्या के आधार पर उसी ने पाण्डव सेना की व्यूह-रचना की । दुर्योधन ने द्रोणाचार्य की इस त्रुटि का निर्देश किया, जिससे वे युद्ध में सजग और दृढ़ रहें । उपरोक्त कथन से उसका यह भी अभिप्राय है कि युद्ध में अपने स्नेहभाजन शिष्यों (पाण्डवों) के प्रति वे कभी इसी प्रकार दयाभाव न दिखा बैठे । अर्जुन विशेष रूप से द्रोणाचार्य का सर्वधिक प्रिय एवं प्रतिभावान् शिष्य था । दुर्योधन ने चेतावनी दी कि युद्ध में ऐसी उदारता का व्यवहार परिणाम में पराजयकारी सिद्ध होगा ।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।

युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ।।४।।

अनुवाद

इस पाण्डव सेना में भीम-अर्जुन के समान अनेक महान् धनुर्धारी शूरवीर योद्धा हैं, जैसे महारथी सात्यकि, विराट तथा द्रुपद आदि ।।४।।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।

पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ।।५।।

अनुवाद

इनके अतिरिक्त, धृष्टकेतु, चेकितान, काशीराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज, शैब्य, आदि महान् नरश्रेष्ठ एवं पराक्रमी योद्धा भी इस सेना में हैं ।।५।।

युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।

सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥

अनुवाद

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र—ये सभी महारथी हैं ॥६॥

अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।

नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥

अनुवाद

हे ब्राह्मणश्रेष्ठ ! आपके जानने के लिए अपने सैन्य-बल के योग्य सेनापतियों का भी मैं वर्णन करता हूँ ॥७॥

भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिजयः ।

अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदात्तेस्तथैव च ॥८॥

अनुवाद

हमारी सेना में स्वयं आप, पितामह भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा सोमदत्तपुत्र भूरिश्रवा आदि हैं; ये सभी संग्राम में सदा विजयी रहे हैं ॥८॥

अन्ये च बहवः शूरा मदर्थं त्यक्तजीविताः ।

नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥

अनुवाद

अन्य अनेक शूरवीर भी मेरे लिए प्राणों की आहुति देने को उद्यत हैं। वे सभी विविध शस्त्रों से सुसज्जित हैं और युद्ध-कला में निपुण हैं ॥९॥

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम् ।

पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥

अनुवाद

पितामह भीष्म द्वारा भलीभाँति संरक्षित हमारा सैन्यबल निस्सन्देह अपार है, जबकि भीम द्वारा सावधानीपूर्वक रक्षित पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है ॥१०॥

तात्पर्य

इस श्लोक में दुर्योधन ने दोनों सेनाओं के बल की तुलना की है। उसकी धारणा में सब से अधिक अनुभवी सेनानायक पितामह भीष्म द्वारा विशेष रूप से सरक्षित होने से उसका सैन्यबल अपार है। दूसरी ओर, पाण्डवों का सैन्यबल अत्यन्त सीमित है, क्योंकि उसका नेतृत्व अल्प अनुभवप्राप्त भीम कर रहे हैं, जो भीष्म की तुलना में तृणतुल्य है। दुर्योधन भीम के प्रति सदा ईर्ष्याभाव से ग्रस्त रहता था, क्योंकि वह यह भलीभाँति जानता था कि उसकी मृत्यु केवल भीम के हाथ ही हो सकेगी। परन्तु इस समय स्वपक्ष में भीम से कही उत्कृष्ट सेनापति भीष्म की उपस्थिति को देखते हुए दुर्योधन का विश्वास है उसकी विजय पूर्ण रूप से निश्चित है।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।

भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

अनुवाद

अतएव सैन्य-व्यूह में सामरिक महत्त्व के अपने-अपने स्थानों पर स्थित रहते हुए आप सभी पितामह भीष्म से पूरा सहयोग करें ॥११॥

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।

सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

अनुवाद

इस प्रकार द्रोणाचार्य से कहे दुर्योधन के इन वचनों को सुनकर कौरवों के वृद्ध एवं प्रतापी पितामह भीष्म ने उसे हर्षित करते हुए सिंह-गर्जन के समान उच्च स्वर से शङ्खनाद किया ॥१२॥

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।

सहसैवाध्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

अनुवाद

इसके अनन्तर शङ्ख, नगारे, ढोल, मृदंगादि सहसा एक ही साथ बज उठे; उनका वह स्वर अति भयकर हुआ ॥१३॥

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।

माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

अनुवाद

दूसरी ओर, श्वेत घोड़ों से युक्त महिमामय रथ पर विराजमान भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन ने अपने दिव्य शंखों का वादन किया ।।१४।।

तात्पर्य

भीष्मदेव द्वारा बजाये गये शंख की अपेक्षा भगवान् श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के शंखों को दिव्य कहा गया है। अलौकिक शंखों के नाद से स्पष्ट है कि विपक्षी कौरव दल की विजय की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ने पाण्डवों का पक्ष ग्रहण किया है। जयस्तुपाण्डुपुत्राणां येषां पक्षे जनार्दनः—जय सदा पाण्डव जैसे धर्मात्माओं का ही वरण करती है, क्योंकि उन्हें भगवान् श्रीकृष्ण का समाश्रय प्राप्त रहता है। श्रीभगवान् जिस देश-काल में विराजमान रहते हैं, लक्ष्मी भी वहाँ अवश्य निवास करती है, क्योंकि वह अपने स्वामी की नित्य अनुगामिनी है। अतः भगवान् श्रीकृष्ण (श्रीविष्णु) के शंखनाद से प्रकट हो रहा है कि विजय एव श्री अर्जुन की प्रतीक्षा कर रही है। इसके अतिरिक्त, जिस रथ में दोनों सखा विराजमान हैं, वह अर्जुन को अग्निदेव ने प्रदान किया था। इस कारण वह रथ त्रिभुवन-दिग्विजय करने में समर्थ है।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।

पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ।।१५।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने पाञ्चजन्य नामक शंख का वादन किया तथा अर्जुन ने देवदत्त शंख बजाया। अतिमानवीय कर्म करने वाले अतिभोजी भीम ने पौण्ड्र नामक शंख की भंयकर ध्वनि की ।।१५।।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण को हृषीकेश कहा गया है, क्योंकि वे सम्पूर्ण इन्द्रियो के स्वामी हैं। जीव उनके भिन्न-अंश हैं, अतः जीवों की इन्द्रियों भी उनकी इन्द्रियों की भिन्न-अंश हैं। निर्विशेषवादी जीवों की इन्द्रियों का कारण बताने में असमर्थ हैं। इसीलिए वे सदा जीवों को इन्द्रियरहित अथवा निर्विशेष कहने को उत्कण्ठित रहते हैं। यथार्थ में सब जीवों के अन्तर्यामी श्रीभगवान् ही उनकी इन्द्रियों का निर्देशन करते हैं। अपने प्रति जीव की शरणागति के अनुपात में वे उसका नियन्त्रण करते हैं। किन्तु शुद्ध भक्त की इन्द्रियों का तो वे प्रकट रूप से संचालन करते हैं, जैसे कुरुक्षेत्र की इस युद्धभूमि में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन की

चिन्मय इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नियन्त्रण कर रहे हैं। इसलिए उन्हें हृषीकेश सम्बोधित किया गया है। श्रीभगवान् की विविध रसमयी लीलाओं के अनुसार उनके विविध नाम हैं। उदाहरणार्थ उन्होंने मधु नामक दैत्य का वध किया, इसलिए मधुसूदन कहलाये; गायों एवं इन्द्रियों को रसानन्द का आस्वादन कराते हैं, इसलिए गोविन्द हैं, वसुदेव के पुत्ररूप में प्रकट होने के कारण वासुदेव नाम से प्रख्यात हैं; देवकी को माता स्वीकार करने से देवकीनन्दन कहलाए; श्रीधाम वृन्दावन में अपनी बाललीला का यशोदा मैय्या को आस्वादन कराया, इसलिए उनका यशोदानन्दन नाम हुआ तथा सखा अर्जुन का सारथ्य करने से उन्हें पार्थसारथी कहा गया। इसी प्रकार कुरुक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन के मार्गदर्शक के रूप में उनका एक नाम हृषीकेश है।

अर्जुन को इस श्लोक में धनंजय कहा गया है, क्योंकि नाना यज्ञों के लिए विपुल धनराशि के उपार्जन में उसने अपने अग्रज राजा युधिष्ठिर की सहायता की थी। इसी भाँति बहुभोजन तथा हिडिम्बासुर वध जैसे अतिमानवीय कार्यकलाप करने वाले भीम को वृकोदर कहा जाता है। इस प्रकार श्रीभगवान् तथा पाण्डव दल के अन्यान्य पुरुषों द्वारा विशिष्ट शस्त्रों का वादन स्वपक्षी सेनाओं के लिए अत्यन्त उत्साहवर्धक था। विपक्ष में इस वैशिष्ट्य का अत्यन्त अभाव था। परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीदेवी लक्ष्मी भी वहाँ विराजमान नहीं। अतएव युद्ध में कौरवों की पराजय पूर्वनिश्चित है—शस्त्रनाद ने इसी सन्देश का उद्घोष किया।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।

धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥१७॥

द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ।

सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक् ॥१८॥

अनुवाद

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख बजाया और नकुल-सहदेव ने सुघोष एवं मणिपुष्पक नाम वाले शंखों का वादन किया। महान् धनुर्धारी काशी-राज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजय सात्यकि, द्रुपद, द्रौपदी के पुत्र तथा सुभद्रापुत्र (अभिमन्यु) आदि, इन सभी ने हे राजन्! अपने-अपने शस्त्र बजाये ॥१६-१८॥

स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन् ॥१९॥

अनुवाद

शंखों के उस तुमुल घोष ने आकाश तथा पृथ्वी को शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय को विदीर्ण कर दिया ॥१९॥

तात्पर्य

दुर्योधन के पक्षपाती भीष्म आदि योद्धाओं के शंखनाद का पाण्डवों पर कुछ भी प्रभाव पड़ा हो, ऐसी किसी घटना का वर्णन नहीं हुआ है। परन्तु इस श्लोक में स्पष्ट उल्लेख है कि पाण्डव-सैन्यसकुल के शंखनाद से धृतराष्ट्रपुत्रों के हृदय विदीर्ण हो गए। इसमें हेतु है पाण्डवों का अपना पराक्रम और इससे भी अधिक, भगवान् श्रीकृष्ण में उनका अटूट विश्वास। इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण के शरणागत भक्तों के लिए परम विपत्ति में भी भय का कोई कारण नहीं हो सकता।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः ।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ॥२०॥

अनुवाद

हे राजन् ! उस समय श्रीहनुमान्-चिन्ह से युक्त ध्वजा वाले अपने रथ में स्थित पाण्डुपुत्र अर्जुन धृतराष्ट्र पुत्रों को देखता हुआ धनुष धारण कर बाण चलाने के लिए कटिबद्ध हुआ। हे राजन् ! उसी समय अर्जुन ने भगवान् हृषीकेश (श्रीकृष्ण) से ये वचन कहे ॥२०॥

तात्पर्य

युद्ध का उपक्रम होने ही वाला है। पूर्वोक्त वाक्य से स्पष्ट है कि जिन पाण्डवों को युद्ध में भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् मार्गदर्शन प्राप्त है, उनकी करुणानातीत सैन्य-व्यवस्था को देखकर धृतराष्ट्रपुत्र प्रायः हतोत्साहित हो चुके हैं। अर्जुन की ध्वजा पर श्रीहनुमान् जी का चिन्ह भी विजय का मंगलमय प्रतीक है, क्योंकि हनुमान् जी ने राम-रावण युद्ध में भगवान् राम की सहायता की थी, जिससे श्रीराम की उल्लासमयी त्रिभुवन-विदित विजय हुई। इस समय राम एवं हनुमान् दोनों ही अर्जुन के रथ पर उसकी सहायता के लिए विराजमान हैं। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं राम हैं और जहाँ भी

भगवान् राम विराजमान रहते हैं, वहाँ उनके नित्य दास हनुमान् जी और नित्य अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीदेवी सीता जी भी अवश्य निवास करती हैं। अतः अर्जुन के लिए शत्रुभय का कोई कारण नहीं है। इससे भी अधिक, इन्द्रियों के स्वामी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन का मार्गदर्शन करने को स्वयं उपस्थित हैं, जिससे अर्जुन को युद्ध सम्बन्धी सम्पूर्ण सद्परामर्श अनायास उपलब्ध रहेगा। अपने नित्य भक्त के लिए श्रीभगवान् द्वारा नियोजित ऐसी मंगलमयी स्थिति में निश्चित विजय के लक्षण सन्निहित रहते हैं।

अर्जुन उवाच ।

सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥

यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।

कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्नणसमुद्यमे ॥२२॥

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे अच्युत । मेरे रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कर दीजिए, जिससे यहाँ उपस्थित इन सब युद्ध के अभिलाषी योद्धाओं को मैं देख सकूँ, जिनके साथ इस महासंग्राम में मुझे संघर्ष करना है ॥२१-२२॥

तात्पर्य

साक्षात् स्वयं भगवान् होते हुए भी श्रीकृष्ण स्वरूपभूता अहैतुकी करुणा से अभिभूत होकर अपने सखा की सेवा में सलग्न है। भक्तों के लिए उनके स्नेह में कभी न्यूनता नहीं आती। इसी से अर्जुन ने यहाँ उन्हें अच्युत नाम से सम्बोधित किया है। सारथी के रूप में उन्हें अर्जुन का आज्ञापालन करना था। परन्तु इस प्रसंग में भी उन्होंने कोई सफ़ोच नहीं किया। इसीलिए वे अच्युत कह गये हैं। भक्त के लिए मारुथ्य कर्म करने पर भी उनकी सर्वोच्च महिमामयी स्थिति पूर्ववत् अक्षुण्ण बनी रही। इस प्रकार प्रत्येक परिस्थिति में वे पुरुषोत्तम समग्र इन्द्रियों के स्वामी, हृषीकेश हैं। वस्तुतः श्रीभगवान् और उनके सेवक का परस्पर सम्बन्ध अतिशय मधुरिमामय एवं दिव्य है। सेवक अपने सेव्य भगवान् की सेवा में सदा प्रस्तुत रहता है। इसी भाँति भगवान् भी ऐसे सुयोग के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते हैं जब वे भक्त की सेवा कर सकें। स्वयं आज्ञा देने की अपेक्षा अपने शुद्ध भक्त को आज्ञादाता का गौरवमय पद प्रदान कर उससे आज्ञा ग्रहण करने में श्रीभगवान् को विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। ईश्वररूप में वे सबके स्वामी हैं, और उन्हें आज्ञा देने की सागर्य किसी में भी नहीं है। पर जब शुद्ध भक्त उन्हें आज्ञा देता है, तो नित्य निरन्तर अच्युत रहने वाले

उन प्रभु को चिन्मय आनन्दरस-निर्यास का आस्वादन सुलभ हो जाता है।

शुद्ध भक्त होने के कारण अर्जुन को बन्धु-बान्धवों से युद्ध करना अभीष्ट नहीं था। किन्तु शान्ति-सन्धि न करने विषयक दुर्योधन की हठधर्मी ने उसे युद्धभूमि में उतरने को बाध्य कर दिया। अतएव वह यह जानने के लिए बड़ा उत्सुक है कि वहाँ कौन-कौन महारथी उपस्थित है। यद्यपि युद्धभूमि में किसी सन्धि-प्रस्ताव की कोई सम्भावना नहीं है, परन्तु उसे उनका पुन निरीक्षण करना इष्ट है, यह देखने के लिए कि एक सर्वथा अवांछनीय युद्ध के लिए वे कितने उद्यत हैं।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।

धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेयुद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥

अनुवाद

तथा दुर्बुद्धि दुर्योधन की प्रसन्नता के लिए युद्ध की इच्छा से यहाँ एकत्रित हुए इन योद्धाओं को मैं देखूँगा॥२३॥

सञ्जय उवाच।

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।

सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥

अनुवाद

संजय ने कहा, हे भरतवशी धृतराष्ट्र ! अर्जुन द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किए जाने पर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस उत्तम रथ को दोनों सेनाओं के मध्य में स्थापित कर दिया॥२४॥

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।

उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरुनिति॥२५॥

अनुवाद

भीष्म, द्रोण और विश्व के अन्य सभी राजाओं के सामने भगवान् हृषीकेश ने कहा कि हे पार्थ ! यहाँ एकत्रित हुए इन सब कौरवों को देख॥२५॥

तात्पर्य

भगवान् श्रीकृष्ण, जो जीवमात्र के अन्तर्यामी हैं, अर्जुन की मन-स्थिति को

समझ गए। इस संदर्भ में हृषीकेश शब्द उनकी सर्वज्ञता का सूचक है तथा अर्जुन के लिए प्रयुक्त पार्थ शब्द भी इसी प्रकार सारगर्भित है। श्रीकृष्ण अपने सखा को यह सूचित करना चाहते हैं कि उन्होंने उसका सारथ्य इसीलिए स्वीकार किया, कि वह उनकी बुआ कुन्ती (पृथा) का पुत्र है। परन्तु 'कौरवों का अवलोकन कर'—यह कहने से श्रीकृष्ण का क्या अभिप्राय है? क्या अर्जुन युद्ध से उपरत हो जाना चाहता है? श्रीकृष्ण को बुआ कुन्ती के पुत्र से ऐसी आशा नहीं थी। इस विधि से मित्रोचित परिहास में भगवान् ने अर्जुन की मनःस्थिति की पूर्वसूचना दी है।

तत्रापश्यत्स्थितान्यार्थः पितृनथ पितामहान् ।
 आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्यौत्रान्सखींस्तथा ।
 श्वशुरान्सुहृदश्चैव . सेनयोरुभयोरपि ॥२६॥

अनुवाद

अर्जुन ने उन दोनों दलों की सेनाओं में खड़े हुए पितृतुल्य गुरुजनों, पितामहों, आचार्यों, मामाओं, भाइयों, पौत्रों, मित्रों, श्वसुरों और सुहृदों को भी देखा ॥२६॥

तात्पर्य

अर्जुन को युद्धभूमि में सभी सम्बन्धियों का दर्शन हुआ। उसने पितृतुल्य भूरिश्रवा आदि, पितामह भीष्म एवं सोमदत्त, आचार्य द्रोण तथा कृप, शल्य और शकुनी आदि मामाओं, दुर्योधन आदि भाइयों, लक्ष्मण आदि पुत्रों, अश्वत्थामा आदि मित्रों तथा कृतवर्मा आदि सुहृदों को देखा। उसने उन संकुलों को भी देखा जिनमें उसके बहुत से मित्र थे।

तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ।
 कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ॥२७॥

अनुवाद

बन्धु-बान्धवों के इन सब वर्गों को देखकर करुणा से अत्यन्त आक्रान्त हुआ अर्जुन इस प्रकार बोला ॥२७॥

अर्जुन उवाच ।

दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।
 सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्याते ॥२८॥

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे कृष्ण! युद्ध के लिए सम्मुख खड़े हुए इस स्वजन-समुदाय को देखकर मेरे शरीर के अंग शिथिल हो रहे हैं और मुख भी सूखा जाता है।।२८।।

तात्पर्य

यथार्थ भगवद्भक्त सम्पूर्ण दैवी गुणावली से नित्य युक्त रहता है। दूसरी ओर अभक्त चाहे विद्या एव सभ्यता की प्राकृत योग्यताओं में कितनी भी प्रगति कर ले, पर उस में कोई दैवी गुण नहीं होता। इस कारण, युद्धभूमि में बन्धु-बाधवों को देखते ही अर्जुन उन परस्पर युद्ध की इच्छा वालों पर दयार्द्र हो उठा। अपने सैनिकों के प्रति तो उसकी सहानुभूति पूर्व से थी ही, अब शत्रुपक्ष के सैनिकों की आसन्न मृत्यु को देखते हुए वह उन पर भी द्रवित हो गया। निकटवर्ती महाविनाश की कल्पना से उसके अंगों में कंप होने लगा और मुख सूख सा गया। वहाँ पर समवेत योद्धाओं की युद्ध-भावना को देखकर उसे महान् विस्मय हुआ। प्रायः सम्पूर्ण कुल, सभी कुटुम्बी उससे युद्ध करने आए थे। इससे दयामय भक्त अर्जुन करुणा से द्रवित हो उठा। यद्यपि यहाँ उल्लेख नहीं है, परन्तु यह सहज अनुमान का विषय है कि अर्जुन के मुख का सूखना और अंगों में कंपन ही नहीं हो रहा था, वह दयाजन्य अश्रुविमोचन भी कर रहा था। उसमें इन लक्षणों के प्रादुर्भाव का कारण दौर्बल्य न होकर हृदय की कोमलता है, जो शुद्ध भगवद्भक्त का एक प्रधान लक्षण है। इसी हेतु श्रीमद्भागवत में उल्लेख है—

यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।

हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।

भगवान् श्रीकृष्ण के निष्किञ्चन भक्त में सभी दैवी गुणों का नित्य निवास रहता है। अभक्त में तो केवल तुच्छ प्राकृत गुण ही रहते हैं, क्योंकि मनोरथों के पीछे धावन करते रहने से वह अवश्य माया के प्रति आकृष्ट हो जाता है। (श्रीमद्भागवत ५.१८.१२)

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।

गाण्डीवं संसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।।२९।।

अनुवाद

मेरे सम्पूर्ण शरीर में कंप तथा रोमांच हो रहा है; गाण्डीव धनुष हाथ से गिरा जाता है और त्वचा भी जलती है।।२९।।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ॥३०॥

अनुवाद

यहाँ और अधिक खड़े रहने में भी मैं समर्थ नहीं हूँ, क्योंकि अपने को भूलता सा जा रहा हूँ तथा मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। हे केशव ! भविष्य में भी मुझे केवल अमंगल ही अमंगल दृष्टिगोचर होता है ॥३०॥

तात्पर्य

अति अधीर होने से अर्जुन युद्ध-भूमि में स्थित रहने में असमर्थ हो गया। यही नहीं, मन की दुर्बलतावश उसे अपना विस्मरण सा होता जा रहा था। विषय में प्रबल आसक्ति मनुष्य को मोहमय स्थिति में पहुँचा देती है। भयं द्वितीयाभिनिवेशतः, जो प्राकृत परिस्थितियों के अत्यधिक वशीभूत रहते हैं उन में ही ऐसा भय और अभिनिवेश होता है। अर्जुन को युद्धभूमि में केवल दुःख की प्रतीति हो रही थी, मानो शत्रु-विजय करने पर भी वह प्रसन्न नहीं हो सकेगा। निमित्त शब्द अर्थपूर्ण है। जीवन में निराशा ही निराशा देखने पर मनुष्य विचार करता है, 'मैं यहाँ क्यों हूँ?' वस्तुतः प्रत्येक प्राणी केवल अपने में और अपने स्वार्थ में रुचि रखता है। परम पुरुष श्रीकृष्ण में किसी की भी रुचि नहीं है। अर्जुन से यह आशा थी कि वह अपने स्वार्थ की उपेक्षा करके भगवान् श्रीकृष्ण की इच्छा का अनुसरण करेगा, जो प्राणीमात्र का वास्तविक स्वार्थ है। बद्धजीव इस सत्य को भूल जाता है और इसी कारण सासारिक दुःख भोगता है। अर्जुन का विचार है कि युद्ध में विजय भी उसके लिए शोक का ही कारण सिद्ध होगी।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ॥३१॥

अनुवाद

युद्ध में स्वजनो का वध करने से मुझे कुछ भी श्रेयप्राप्ति होती दिखाई नहीं देती, और न ही हे गोविन्द ! युद्ध से प्राप्त होने वाले विजय, राज्य अथवा सुख की मुझे इच्छा ही है ॥३१॥

तात्पर्य

यह जाने बिना कि उनका वास्तविक स्वार्थ भगवान् श्रीविष्णु (श्रीकृष्ण) में है, सुख की कामना से प्रेरित हुए बद्ध जीव देह के सम्बन्धों में ही आसक्त रहते हैं। वे मोहवश भूल जाते हैं कि प्राकृत सुख के स्रोत भी श्रीकृष्ण हैं। प्रतीत होता है कि

अर्जुन को तो क्षात्र-धर्म का भी विस्मरण हो गया है। शास्त्र के अनुसार केवल दो प्रकार के व्यक्ति जाज्वल्यमान सूर्यमण्डल में प्रविष्ट होने के योग्य हैं—एक श्री कृष्ण की आज्ञानुसार युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए क्षत्रिय और दूसरे पूर्णरूप से भगवद्भक्ति-परायण संन्यासीगण। सम्बन्धियों की तो बात ही क्या, अर्जुन तो अपने शत्रुओं को भी मारने से पराङ्मुख हो रहा है। उसका विश्वास है कि बान्धवों का वध करने से उसके जीवन में सुख का अत्यंत अभाव हो जायगा। अतः वह युद्ध नहीं करना चाहता, वैसे ही जैसे कोई तृप्त व्यक्ति भोजन बनाने में प्रवृत्त नहीं होता। वरन्, उसने वनगमन करके एकान्त में निराशा भरा जीवन बिताने का निश्चय किया है। क्षत्रिय होने के कारण अपने निर्वाह के लिए उसे एक राज्य चाहिए, क्योंकि क्षत्रियों के लिए अन्य कोई कार्य उचित नहीं है। पर अर्जुन का तो कोई राज्य नहीं है। उसके लिए राज्य-प्राप्ति का एकमात्र साधन भाइयों से युद्ध कर अपना पैतृक राज्य पुनः हस्तगत करना है। परन्तु ऐसा करना उसे अभीष्ट नहीं। इस सब परिस्थिति को देखते हुए वह अपने को वन में जाकर निराशामय एकान्त वास करने के योग्य समझता है।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ।

येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।।३२।।

त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ।

आचार्याः पितरः पुत्रस्तथैव च पितामहाः ।।३३।।

मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः संबन्धिनस्तथा ।

एतान्न हन्तुमिच्छामि धृतोऽपि मधुसूदन ।।३४।।

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ।

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।।३५।।

अनुवाद

हे गोविन्द। हमें राज्य, सुख अथवा जीवन से भी क्या प्रयोजन है, क्योंकि जिनके लिए हमें इन पदार्थों की इच्छा है, वे ही इस युद्ध में खड़े हैं। हे मधुसूदन। गुरुजन, पितृजन, पुत्र, पितामह, मामा, श्वशुर, पौत्र, साले तथा अन्य सम्बन्धी भी धन तथा जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में मेरे सामने खड़े हैं। अपनी प्राणरक्षा के लिए भी इनके वध की इच्छा मैं नहीं कर सकता। हे जनार्दन। त्रिभुवन के राज्य तक के लिए मैं इन स्वजनो से युद्ध नहीं करना चाहता, फिर पृथ्वी के लिए तो कहना ही क्या है ।।३२-३५।।

तात्पर्य

अर्जुन ने भगवान् श्रीकृष्ण को गोविन्द कहा है, क्योंकि वे गायों तथा इन्द्रियों को समग्र रसानन्द का आस्वादन कराते हैं। इस शब्द के प्रयोग से अर्जुन ने यह संकेत किया है कि उसकी इन्द्रियाँ किस प्रकार तृप्त हो सकती हैं। श्रीगोविन्द का कार्य हमारी इन्द्रियों को तृप्त करना नहीं है, किन्तु यदि हम उनकी इन्द्रियों को तृप्त करने का प्रयत्न करें तो हमारी इन्द्रियाँ अपने-आप तृप्त हो जायेंगी। विषयभोग के द्वारा अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा से प्रेरित हुआ जीव साधारणतया भगवान् तक को अपना आज्ञाकारी सेवक बनाना चाहता है। श्रीभगवान् जीवों की इन्द्रियों को यथायोग्य तृप्त करते भी हैं, पर उनकी इच्छानुसार नहीं। इसके विपरीत, जो भक्त निजेन्द्रियतृप्ति की कामना से मुक्त होकर श्रीगोविन्द की इन्द्रियों को ही तृप्त करने में सलग्न रहते हैं, भगवत्कृपा से उनकी सर्वाभीष्ट-सिद्धि हो जाती है। कुटुम्ब और बान्धवों के प्रति अर्जुन का प्रगाढ़ स्नेह है—उनके लिए उसकी स्वाभाविक करुणा के रूप में यह सत्य यहाँ आशिक रूप से प्रकट हुआ है। यही कारण है कि वह युद्ध से मुख मोड़ रहा है। कोई भी मनुष्य अपने वैभव का बन्धु-बान्धवों के आगे आडंबर करना चाहता है, पर अर्जुन को भय है कि उसके सब बांधव युद्ध में मारे जायेंगे, जिससे विजयी होकर अपने वैभव को वह उनके साथ नहीं भोग सकेगा। विषयी मनुष्य इसी प्रकार सोचता है। किन्तु पारमार्थिक जीवन का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न है। भक्त केवल भगवत्-इच्छा की पूर्ति करना चाहता है। अतः भगवत्-इच्छा होने पर वह भगवत्सेवा के लिये सारा वैभव स्वीकार कर सकता है और श्रीभगवान् की इच्छा न होने पर उसे तृण भी नहीं स्वीकार करना चाहिए। अर्जुन को स्वजन-वध करना अभीष्ट नहीं। यदि उनके वध की कोई आवश्यकता हो तो श्रीकृष्ण स्वयं उनका वध करें, ऐसा उसका भाव है। सम्प्रति, उसे नहीं पता कि उनके युद्धभूमि में आने से पूर्व ही श्रीकृष्ण उन सबका वध कर चुके हैं, उसे तो केवल निमित्त-मात्र बनना है। इस रहस्य का उद्घाटन अगले अध्यायों में होगा। स्वभावसिद्ध भक्त अर्जुन को अपने अत्याचारी भाइयों तक का प्रतिकार करना अप्रिय लग रहा है, परन्तु श्रीभगवान् की योजना है कि उन सबका वध हो। भगवद्भक्त पापाचारियों का भी प्रतिकार नहीं करता, परन्तु श्रीभगवान् को दुष्टों द्वारा भक्त का उत्पीड़न सहन नहीं होता। वे अपने अपराधी को तो क्षमा कर सकते हैं, पर भक्त का अपराधी उनके लिए कदापि क्षम्य नहीं हो सकता। इसी कारण, यद्यपि अर्जुन दुष्टों को क्षमा करना चाहता है, पर भगवान् श्रीकृष्ण उनके वध के लिए कृतसंकल्प हैं।

पापमेवाश्रयेदस्मान् ह त्वैतानाततायिनः

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान् ।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ।।३६।।

अनुवाद

ऐसे आततायियों का वध करने पर भी हम पाप को ही प्राप्त होंगे। इसलिए अपने बन्धु धृतराष्ट्र-पुत्रों की हत्या करना हमारे योग्य नहीं है। हे माधव ! स्वजनों के वध से हमें क्या लाभ होगा, ऐसा करने से हम किस प्रकार सुखी होंगे ? ।।३६।।

तात्पर्य

वैदिक विधान के अनुसार आततायी छ प्रकार के होते हैं—(१) विष देने वाला, (२) घर में अग्नि लगाने वाला, (३) शस्त्र से आक्रमण करने वाला, (४) धन अपहरण करने वाला, (५) दूसरे की भूमि पर अधिकार करने वाला तथा (६) स्त्री का अपहरण करने वाला। ऐसे आततायियों का सामने आते ही तुरन्त वध कर देना चाहिये, इससे पाप नहीं लगता। इस प्रकार आततायी को मारना साधारण मनुष्य के लिए योग्य हो सकता है, पर अर्जुन तो साधारण व्यक्ति नहीं है। वह सन्त-स्वभाव से युक्त है और इस कारण उनके साथ सन्तोचित व्यवहार करना चाहता है। परन्तु ऐसा सन्तपन क्षत्रिय के लिए नहीं। भाव यह है कि प्रशासन के उत्तरदायी अधिकारी को सन्त स्वभाव वाला तो होना चाहिए, पर भीरु नहीं। उदाहरणार्थ, भगवान् राम की साधुता के कारण समस्त जनता उनके राज्य (रामराज्य) में रहने के लिए आतुर थी, पर श्रीराम ने कभी कायरता नहीं दिखाई। अपनी धर्मपत्नी सीता देवी का अपहरण करने वाले आततायी रावण को उन्होंने ऐसा दण्ड दिया, जो आज तक विश्व-इतिहास में अद्वितीय है। परन्तु अर्जुन के सन्दर्भ में एक बड़ा अन्तर है। यहाँ आततायी है उसके अपने पितामह, आचार्य, मित्र, पुत्र, पौत्र आदि। यह देखते हुए अर्जुन ने निश्चय किया है कि उन्हें साधारण आततायी को दिया जाने वाला घोर दण्ड देना उसके उचित नहीं होगा। इसके अतिरिक्त, सत्पुरुषों के लिए क्षमादान का आदेश है और ऐसा शास्त्रीय विधान राजनीतिक अनिवार्यता से अधिक महत्त्व रखता है। इसलिए उसने विचार किया कि राजनीतिक कारणों से स्वजनों का वध करने की अपेक्षा धर्म और सदाचार की दृष्टि से उन्हें क्षमा करना अधिक श्रेष्ठ है। क्षणिक दैहिक सुख के लिए ऐसी हत्या करना उसे श्रेयस्कर नहीं लगा। अन्त में जब राज्य अथवा उससे प्राप्त होने वाला सुख भी नित्य नहीं है, तो स्वजनों का वध करके अपने जीवन एवं शाश्वत् मुक्ति को वह सकट में क्यों डाले ? अर्जुन का श्रीकृष्ण को माधव अर्थात् 'श्रीपति' सम्बोधित करना भी इसी सन्दर्भ में अर्थसंगत

है। उन्हें अर्जुन को ऐसे कार्य में प्रेरित नहीं करना चाहिए, जिसके परिणाम में श्रीहानि हो। परन्तु भक्त के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है, श्रीकृष्ण किसी का भी कभी अनिष्ट नहीं करते।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।

कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३७॥

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।

कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३८॥

अनुवाद

हे जनार्दन ! यद्यपि लोभ से भ्रष्टचित्त हुए ये लोग कुल-नाश करने में अथवा मित्र-द्रोह में कोई दोष नहीं देखते, किन्तु उस पाप को जानने वाले हम इस कर्म में क्यों प्रवृत्त हो ॥३७-३८॥

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।

धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥३९॥

अनुवाद

कुल का नाश होने से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं और इस प्रकार शेष कुल भी अधर्म में प्रवृत्त हो जाता है ॥३९॥

तात्पर्य

वर्णाश्रम व्यवस्था में ऐसे अनेक परम्परागत धार्मिक नियम हैं, जो सम्पूर्ण कुल के अभ्युदय तथा दैवीगुण-प्राप्ति में सहायक सिद्ध होते हैं। कुल में जन्म से मृत्यु तक होने वाले इन शुद्धि कृत्यों का दायित्व वयोवृद्धों पर रहता है। वृद्धों की मृत्यु होने पर कुल के ऐसे पारम्परिक शुद्धि कर्म लुप्त हो सकते हैं। इससे यह आशंका रहती है कि शेष बचे तरुण अधर्ममय व्यसनों में प्रवृत्त होकर कही मुक्ति-लाभ से वंचित न रह जायें। अतएव किसी भी कारण से कुल के वयोवृद्धों का वध करना योग्य नहीं है।

अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।

स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः ॥४०॥

अनुवाद

हे कृष्ण ! कुल में अधर्म के बढ़ जाने पर कुल की स्त्रियाँ भी दूषित हो जाती हैं। हे वृष्णिवशी ! इस प्रकार स्त्रियों के पतन से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती

है । १४० ।।

तात्पर्य

मानव-समाज में शान्ति, वैभव तथा परमार्थ का प्रधान आधार सदाचारी सन्तान है। वर्णाश्रम-धर्म का इस प्रकार प्रणयन किया गया है जिससे कि भगवत्प्राप्ति के पथ में राज्य एवं समाज की उन्नति के लिए समाज में सदाचारी सन्तान का प्राधान्य रहे। ऐसी सन्तान का प्रादुर्भाव स्त्रीवर्ग के सतीत्व तथा निष्ठा पर निर्भर करता है। जिस प्रकार बालक सुगमता से कुमार्ग पर चले जाते हैं, उसी भौति स्त्रियाँ भी अत्यधिक पतनोन्मुखी होती हैं। अतः बालकों और स्त्रियों दोनों को कुल के वृद्धों का सरक्षण अपेक्षित है। विविध धार्मिक कृत्यों में सलग्न स्त्रियों उपपतित्व के भ्रष्ट-पथ के उन्मुख नहीं होंगी। चाणक्य पंडित के अनुसार स्त्रियाँ प्रायः अल्पज्ञ होती हैं, इसलिए उन पर अधिक विश्वास नहीं करना चाहिए। उन्हें धार्मिक कृतिरूप कुलधर्मों में ही नित्य सलग्न रहना चाहिए। इस प्रकार उनकी भक्ति तथा सतीत्व से वर्णाश्रम-धर्म के योग्य सदाचारी सन्तान की उत्पत्ति होगी। वर्णाश्रम-धर्म के विनाश से स्त्रियाँ स्वभावतः पराए पुरुषों से सम्बन्ध रखने में स्वतन्त्र हो जाती हैं। इस व्यभिचार से वर्णसंकर की उत्पत्ति होती है। दायित्वशून्य व्यक्ति भी समाज में व्यभिचार को प्रेरित करते हैं और इस प्रकार, अवैच्छनीय वर्णसंकर मानवजाति को परिपूरित कर युद्ध, महामारी तथा महाविनाश की विपदा उपस्थित कर देते हैं।

संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।

पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः । १४१ ।।

अनुवाद

वर्णसंकरों की वृद्धि से सम्पूर्ण कुल को और कुलघातियों को भी नरक की प्राप्ति होती है। ऐसे पतित कुलों में पितरों के लिए पिण्डोदक क्रिया का लोप हो जाता है, जिससे उनके पितर भी गिर जाते हैं । १४१ ।।

तात्पर्य

सकाम कर्मों के विधि-विधान के अनुसार कुल के पितरों के लिए नियमित रूप से पिण्डोदक अर्पण करना आवश्यक है। यह अर्पण विष्णु-आराधना सहित किया जाता है, क्योंकि श्रीविष्णु को अर्पित अन्न का भोजन सब प्रकार के पाप-बन्धनों से मुक्त कर देता है। पापकर्मवश पितरों को विभिन्न दुःख भोगने पड़ते हैं। कुछ को तो स्थूल प्राकृत देह की प्राप्ति भी नहीं होती, जिससे वे प्रेत योनि के सूक्ष्म शरीर में रहने का बाध्य हो जाते हैं। वंशजों से प्रसाद का अंश ग्रहण कर ये पितर प्रेत आदि

दुर्गतिमय योनियो से मुक्त हो जाते हैं। इस विधि से पितरो की सहायता करना कुलधर्म है और जो भक्ति के परायण नहीं है, वे तो इन कृत्यों का अनुष्ठान अवश्य ही करें। भक्तिनिष्ठ उत्तम भक्त के लिए ये आवश्यक नहीं हैं। केवल भगवद्भक्ति सहस्रों पितरो को सब प्रकार की दुर्गतियों से पूर्ण मुक्त कर सकती है। श्रीमद्भागवत में उल्लेख है

देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन् ।

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ।।

‘जो पुरुष अन्य सब कर्तव्यों को त्याग कर दृढ़तापूर्वक मुक्तिदाता श्रीमुकुन्द की ही शरण ले लेता है, उसका देवताओं, ऋषियों, सब प्राणियों, स्वजनों, मानव-समाज और पितरों के प्रति कोई कर्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता।’ (भा० ११.५.४१) भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति से सभी ऋणों का स्वतः विमोचन हो जाता है।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः ।

उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ।।४२।।

अनुवाद

कुलघातियों के इन दोषों से सभी शाश्वत जातिधर्म तथा कुलधर्म नष्ट हो जाते हैं।।४२।।

तात्पर्य

सनातनधर्म अथवा वर्णाश्रम धर्म के अर्न्तगत मानव समाज के चार वर्णों तथा कुलधर्मों का प्रयोजन मानव को मुक्त कराना है। अतः जब समाज के अनुत्तरदायी लोकनायक सनातनधर्म-परम्परा को विखण्डित कर देते हैं, तो समाज में विप्लव हो जाता है, जिससे जनता जीवन के लक्ष्य—श्रीविष्णु को भूल बैठती है। ऐसे नेत्रहीन लोकनायकों के अनुगामी पथभ्रष्ट होकर निश्चित विनाश की ओर ही अग्रसर होते हैं।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।

नरकेऽनित्यं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम् ।।४३।।

अनुवाद

हे जनार्दन ! मैंने गुरुपरम्परा से सुना है कि कुलधर्म का विनाश करने वालों का नित्य नरक में वास होता है।।४३।।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥४४॥

अनुवाद

अहो ! यह कैसा महान् आश्चर्य है कि राज्यसुख के लोभ से हम स्वजनवधरूप महान् पापकर्म करने को उद्यत हो रहे हैं ॥४४॥

यदि धामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥४५॥

अनुवाद

धृतराष्ट्र-पुत्रों से युद्ध करने की अपेक्षा यदि मुझ शस्त्ररहित और सामना न करने वाले को वे रण में मारे, तो वह मेरे लिए अधिक कल्याणकारक होगा ॥४५॥

तात्पर्य

क्षत्र-युद्धनियमों के अनुसार यह परम्परा है कि जो शस्त्ररहित है अथवा युद्ध से पराङ्मुख हो गया है, उस शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिए। अपनी दुर्बोध स्थिति को देखते हुए अर्जुन ने निर्णय किया कि शत्रु का आक्रमण होने पर भी वह युद्ध नहीं करेगा। उसने इस बात को महत्त्व नहीं दिया कि शत्रुपक्ष युद्ध के लिए कितना उद्यत है। इन सब लक्षणों का कारण है उसके हृदय में भक्तियोग से उत्पन्न दयार्द्रता।

सञ्जय उवाच ।

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४६॥

अनुवाद

संजय ने कहा, रणभूमि में इस प्रकार कहकर शोक से व्याकुल चित्त वाला अर्जुन बाणसहित धनुष को त्याग कर रथ में बैठ गया ॥४६॥

तात्पर्य

शत्रु-स्थिति का निरीक्षण करते समय अर्जुन अपने रथ पर खड़ा हुआ था। परन्तु सैन्य-निरीक्षण करके वह शोक से इतना अधिक अभिभूत हो गया कि धनुषबाण

को एक ओर रख कर फिर रथ में बैठ गया। इस प्रकार का भगवद्भक्ति-परायण दयार्द्र और सहृदय पुरुष निश्चय ही आत्मज्ञान की शिक्षा पाने के योग्य है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादेऽर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥
इति भक्तिवेदान्त भाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥

अथ द्वितीयोऽध्याय :



सांख्ययोग

(गीता के प्रतिपाद्य तत्त्व का सारांश)

सञ्जय उवाच ।

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।

विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥

अनुवाद

संजय ने कहा, उस करुणा और शोक में मग्न हो रहे आँसुओं से पूर्ण व्याकुल नेत्रों वाले अर्जुन से भगवान् श्रीमधुसूदन ने यह वचन कहा ॥१॥

तात्पर्य

सांसारिक करुणा, शोक तथा अश्रुविमोचन—ये लक्षण उसी में प्रकट होते हैं, जो आत्मा के तत्त्व को नहीं जानता। शाश्वत् आत्मा के लिए दयाभाव ही स्वरूप-साक्षात्कार है। इस श्लोक में प्रयुक्त मधुसूदन शब्द गूढ़ अर्थ रखता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने मधु दैत्य का वध किया था। इसलिए अर्जुन चाहता है कि उसे अभिभूत करने वाले अज्ञान रूपी दैत्य का भी वे विनाश करें, जो उसके कर्तव्य-कर्म के मार्ग में

बाधा उपस्थित कर रहा है। करुणा का प्रयोग कहाँ करना उचित है, यह कोई नहीं जानता। डूबते मनुष्य के वस्त्रों के लिए करुणा करना बुद्धिहीनता होगी; स्थूल पाँचभौतिक देह रूपी बाह्य परिधान की रक्षा करने से अज्ञान-सागर में पतित जीव को बचाया नहीं जा सकता। ऐसा न जानकर जो बाह्य परिधान के लिए शोक करता है, वह शूद्र है। अर्जुन तो क्षत्रिय है, इसलिए ऐसा व्यवहार उसके योग्य नहीं। भगवान् श्रीकृष्ण अज्ञानी जीव के शोक का छेदन करने में पूर्ण समर्थ हैं। यही कारण है कि उन्होंने भगवद्गीता का उपदेश किया। इस अध्याय में परम-प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने प्राकृत देह तथा आत्मा के तात्त्विक अध्ययन के द्वारा स्वरूप-साक्षात्कार करने की शिक्षा दी है। अपने यथार्थ आत्म-स्वरूप की दृढ़ धारणा में स्थित होकर कर्म करने में यह अनुभूति हो सकती है।

श्रीभगवानुवाच ।

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ।।२।।

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन ! तुझे संग्राम की इस विषम स्थिति में यह अज्ञान किस कारण से प्राप्त हुआ ? यह न तो उनके योग्य है, जो जीवन की श्रेष्ठ गरिमा को जानते हैं और न उच्च लोको की प्राप्ति कराने वाला है, अपितु अपयश का कारण है ।।२।।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं। सम्पूर्ण गीता में उन्हें 'भगवान्' ही कहा गया है। 'भगवान्' उस परतत्त्व की अवधि हैं, जिसकी प्राप्ति सर्वव्यापक निर्विशेष ब्रह्म, प्राणीमात्र के हृदयव्यापी परमात्मा और भगवान्, ज्ञान की इन तीन श्रेणियों में होती है। श्रीमद्भागवत में इस अद्वय तत्त्व का वर्णन इस प्रकार है-

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्धते ।।

“ तत्त्वावेत् को परतत्त्व की अनुभूति 'ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान्', ज्ञान के इन तीन स्तरों पर होती है, जिन में परस्पर अभेद है।” (श्रीमद्भागवत १.२.११) इन तीनों दिव्य तत्त्वों का स्वरूप सूर्य के दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सूर्य के भी तीन

श्लोक २]

पक्ष हैं—सूर्यज्योति, सूर्य का बाह्य रूप और स्वयं सूर्यलोक। सूर्यज्योति का ज्ञाता प्रारम्भिक विद्यार्थी है। वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त सूर्यज्योति के अल्प ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाता है। ऐसे साधारण विद्यार्थी को परतत्त्व के केवल बाह्य स्वरूप अर्थात् निर्विशेष दीप्ति की अनुभूति होती है। उन्नति करके सौर-मण्डल के ज्ञान को प्राप्त कर लेना परतत्त्व के परमात्मा स्वरूप के ज्ञान को प्राप्त करना है। अन्त में सूर्यलोक के मध्य में प्रवेश कर जाना परतत्त्व के भगवत्-स्वरूप की प्राप्ति के समान है। इससे सिद्ध होता है कि यद्यपि परतत्त्व के सब जिज्ञासुओं का लक्ष्य एक ही तत्त्व है, किन्तु भगवत्प्राप्त कृष्णभक्त ही सर्वोच्च ज्ञानी है। सूर्यज्योति, सूर्यमण्डल तथा अन्तरंग सूर्यलोक को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। पर साथ ही, इन तीनों पक्षों के विद्यार्थी एक श्रेणी में नहीं आते।

संस्कृत शब्द **भगवान्** की विवेचना व्यासदेव के पिता महर्षि पराशर ने की है। समग्र श्री, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा त्याग से युक्त परम पुरुष को **भगवान्** कहते हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो अत्यन्त धनी, वीर्यवान्, सुन्दर, यशस्वी, विद्वान् और त्यागी हैं। किन्तु यह कोई नहीं कह सकता कि वह समग्र श्री, वीर्य, आदि से युक्त है। एकमात्र श्रीकृष्ण ही यह उद्घोष कर सकते हैं; अतएव वे साक्षात् स्वयं भगवान् हैं। ब्रह्म, शिव तथा नारायण सहित कोई जीव श्रीकृष्ण के समान पूर्ण षडैश्वर्यवान् नहीं है। इस कारण 'ब्रह्मसहिता' में ब्रह्माजी का निर्णय है कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनसे अधिक अथवा उनके समान कोई नहीं है, वे आदिपुरुष गोविन्द सब कारणों के परम कारण हैं।

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।

अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम्।।

'बहुत से पुरुष दिव्य गुणों से युक्त हैं, किन्तु अनुपमेय होने के कारण भगवान् श्रीकृष्ण परमोत्तम हैं। वे परम-पुरुष हैं; उनका श्रीविग्रह सच्चिदानन्दमय है। वे आदिपुरुष गोविन्द ही सब कारणों के परम कारण हैं।' (ब्रह्मसहिता)

श्रीमद्भागवत में नाना भगवत् अवतारों का उल्लेख है, परन्तु श्रीकृष्ण को सकल अवतारों का उद्गम, 'स्वयं भगवान्' कहा गया है।

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे।।

'यहाँ वर्णित सब अवतार श्रीभगवान् के अंश अथवा कलास्वरूप हैं, परन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।' (श्रीमद्भागवत १.३.२८)

अस्तु, श्रीकृष्ण परमात्मा एवं निर्विशेष ब्रह्म के भी उद्गम परात्पर आदिपुरुष भगवान् हैं।

स्वयं भगवान् की उपस्थिति में अर्जुन द्वारा स्वजनों के लिए शोक करना सर्वथा अयोग्य था। श्रीकृष्ण ने कृतः शब्द से इस पर अपना विस्मय अभिव्यक्त किया है। आर्य सस्कृति के सदस्य से यह आशा नहीं की जाती कि वह ऐसी पौरुषहीनता प्रकट करेगा। 'आर्य' शब्द जीवन की गरिमा को जानने वाले, भगवत्-परायण सस्कृति वाले पुरुषों के लिए प्रयुक्त होता है। विषयी नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भगवान् विष्णु की प्राप्ति करना है। प्राकृत-जगत् के बाह्य-रूप पर मोहित होने के कारण वे मुक्ति-तत्त्व से अनभिज्ञ हो रहते हैं। भव-मुक्ति के ज्ञान से शून्य होने से ऐसे व्यक्ति 'अनार्य' कहलाते हैं। क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से पराङ्मुख होकर अर्जुन अपने नियत कर्तव्य से च्युत हो रहा था। अतएव उसकी इस भीरुता को अनार्योचित कहा गया। ऐसी कर्तव्य-विच्युति भगवत्प्राप्ति एवं सांसारिक यश-उपलब्धि में सहायक नहीं होती, इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वजनों के लिए अर्जुन की उस तथाकथित करुणा का अनुमोदन नहीं किया।

क्लैष्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।

क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥३॥

अनुवाद

हे पार्थ ! इस अपकर्षकारी नपुंसकता को मत प्राप्त हो यह तेरे योग्य नहीं है। हे परंतप ! हृदय की इस तुच्छ दुर्बलता को त्याग कर युद्ध के लिए खड़ा हो॥३॥

अर्जुन उवाच।

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।

इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन॥४॥

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, हे मधुसूदन श्रीकृष्ण ! मैं रणभूमि में भीष्म और द्रोणाचार्य आदि का किस प्रकार बाणों से विरोध कर सकता हूँ, क्योंकि ये दोनों ही मेरे पूज्य हैं॥४॥

गुरुनहत्वा हि महानुभावान्

श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।

हत्वार्थकामांस्तु गुरुनिहैव
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

अनुवाद

गुरुजनों का वध करके जीवित रहने की अपेक्षा तो इस ससार में भिक्षा-वृत्ति से जीवनयापन करना अधिक श्रेयस्कर होगा। अर्थलोलुप होने पर भी ये महानुभाव वरिष्ठ हैं। इनकी हत्या करने से हमारे भोग भी रुधिर से कलंकित हो जायेंगे ॥५॥

न चैतद्विद्यः कतरन्नो गरीयो
यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः ।
यानेव हत्वा न जिजीविषाम-
स्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥

अनुवाद

हम नहीं जानते कि हमारे लिये क्या श्रेयस्कर है, उन पर विजय प्राप्त करना या उनसे पराजित होना अथवा यह भी नहीं जानते कि युद्ध में हम जीतेंगे या हमको वे जीतेगे। जिनका वध करके हम जीवित भी नहीं रहना चाहते, वे ही धृतराष्ट्र-पुत्र इस रणभूमि में लड़ने के लिए हमारे सामने खड़े हैं ॥६॥

तात्पर्य

अर्जुन यह निश्चय नहीं कर पा रहा है कि वह क्षत्रिय के धर्मानुरूप युद्ध कर के अनावश्यक हिंसा का सकट उपस्थित होने दे अथवा युद्ध से उपरत होकर भिक्षा-वृत्ति से जीवन-यापन करे। यदि वह शत्रु-विजय नहीं करता है तो भिक्षा ही उसके लिए जीवन-यापन करने का एकमात्र साधन रहेगा। साथ में, विजय भी निश्चित नहीं, दोनों दलों में से कोई भी विजयी हो सकता है। यदि उनकी विजय निश्चित भी होती (क्योंकि उनका पक्ष न्यायसंगत है) तो भी युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हुए धृतराष्ट्र-पुत्रों के बिना पाण्डवों के लिये जीवित रहना अति कष्टसाध्य होगा। ऐसी परिस्थिति में वह भी प्रकारान्तर से पराजय ही होगी। अर्जुन के इस सम्पूर्ण विवेचन के निश्चित रूप से प्रामाणित होता है कि वह महाभागवत ही नहीं था, वरन् पूर्णतया प्रबुद्ध और जितेन्द्रिय भी था। राजकुल में जन्म लेने पर भी भिक्षा से निर्वाह करने का उसका विचार उत्कृष्ट अनासक्ति का परिचायक है। वह यथार्थ में सदाचारी था, जैसा कि इन गुणों से और अपने गुरु भगवान् श्रीकृष्ण की शिक्षा में उसकी प्रगाढ़ निष्ठा से प्रकट है। इस सबसे अर्जुन सब प्रकार से मुक्ति के योग्य सिद्ध होता है। इन्द्रिय-निग्रह किये

बिना ज्ञान-प्राप्ति नहीं होती तथा ज्ञान और भक्ति के बिना मुक्ति नहीं होती। इस प्रकार विपुल लौकिक गुणों के अतिरिक्त अर्जुन इस सम्पूर्ण दैवी गुणावली से भी विभूषित है।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः

पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥

अनुवाद

प्रभो ! कृपणता के कारण मैं स्वधर्म के सम्बन्ध में संमोहित हो गया हूँ और सब धैर्य भी खो बैठा हूँ। इसलिए आपसे पूछता हूँ, मेरे लिये जो निश्चय किया हुआ श्रेयस्कर साधन हो, वह कहिये। मैं आप का शरणागत शिष्य हूँ। अतएव कृपया मुझ को शिक्षा दीजिये ॥७॥

तात्पर्य

यह प्रकृति का नियम है कि प्राकृत क्रियाओं की पूरी की पूरी व्यवस्था सब के लिये उद्वेग का ही स्रोत है। प्रतिपद पर व्याकुलता की ही प्राप्ति होती है। अतः जीवन की लक्ष्य-सिद्धि की यथार्थ शिक्षा के लिये प्रामाणिक गुरु के निकट जाना आवश्यक है। वैदिक शास्त्र जीवन के सम्पूर्ण अवोच्छित उद्वेगों से मुक्ति के लिए आप्त सद्गुरु की शरण में जाने की आज्ञा देते हैं। अपने आप लगी दावाग्नि की भाँति संसार की व्यवस्था इस प्रकार की है कि हमारी इच्छा के विपरीत भी जीवन में उद्वेग अपने-आप उठते रहते हैं। दावाग्नि को कोई नहीं चाहता, फिर भी वह प्रज्वलित हो उठती है, जिससे हमें व्याकुलता होती है। इसी से वैदिक ज्ञान आज्ञा देता है कि व्यग्रता की निवृत्ति करने तथा समाधान की विद्या सीखने परम्परागत गुरु की शरण में जाय। सद्गुरु के आश्रित हुआ शिष्य सर्वज्ञ हो जाता है। इसलिए प्राकृत उद्वेगों में निमग्न न रहकर गुरु-शरण रूपी वैकुण्ठ का पादाश्रय अवश्य ग्रहण करे—यही इस श्लोक का तात्पर्य है।

संसार के उद्वेगों से कौन घिरा हुआ है ? वह, जो जीवन के दुःखों के विषय में नहीं जानता। गर्गोपनिषद् में ऐसे मनुष्य को 'कृपण' कहा गया है:

'यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदितवासमाल्लोकात्प्रैति स कृपणः'

'मानव देह को प्राप्त होकर भी जो जीवन के दुःखों को निवृत्त किए बिना

स्वरूप-साक्षात्कार की विद्या को जाने बिना शूकर-कूकर के समान मृत्यु समय इस संसार को त्याग कर जाता है, वह कृपण है। 'यह मानव देह जीव की सबसे मूल्यवान् सम्पत्ति है, इसके उपयोग से वह जीवन के दुःखों का समाधान कर सकता है। अतः जो इस सुयोग से यथेष्ट उपयोग नहीं लेता, वह कृपण है। इसके विपरीत ब्राह्मण वह है, जो बुद्धिमानी से इस देह का सदुपयोग कर जीवन के क्लेशों से मुक्त हो जाय।

देहात्मबुद्धि के कारण कृपण मनुष्य परिवार, समाज, देश आदि की अत्यधिक आसक्ति में ही अपना सारा समय नष्ट कर देता है। वह प्रायः 'त्वचा रोग' के आधार पर पारिवारिक जीवन अर्थात् कलत्र, पुत्र स्वजनों के प्रति बड़ा आसक्त रहता है। कृपण सोचता है कि वह अपने परिवार का मृत्यु से परित्राण कर सकता है अथवा उसके बन्धु-बान्धव ही कालपाश से उसकी रक्षा कर लेंगे। अपनी सन्तान की परिचर्या करने वाले अधम पशुओं में भी ऐसी स्वजनासक्ति दृष्टिगोचर होती है। अर्जुन बुद्धिमान् है, इसलिए जानता है कि स्वजनों के लिए उसका स्नेह और उन्हें मृत्यु से बचाने की उसकी इच्छा ही उसकी सम्पूर्ण व्यग्रता का कारण है। यह जानते हुए भी कि युद्ध-विषयक कर्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहा है, वह कार्पण्य-दोष-वश कर्तव्य का पालन करने में असमर्थ सा हो गया। इसलिए अब परम गुरु भगवान् श्रीकृष्ण से निर्णय करने का आग्रह कर रहा है। वह श्रीकृष्ण का शिष्यत्व ग्रहण करता है; अब सख्यवार्ता नहीं करना चाहता। यथार्थ गुरु-शिष्य का वार्तालाप वास्तव में बड़ा गम्भीर होता है। इस समय अर्जुन भी सद्गुरु से गम्भीर वार्ता करना चाहता है। श्रीकृष्ण भगवद्गीता-विज्ञान के आदि गुरु हैं तथा अर्जुन प्रथम शिष्य है। अर्जुन ने गीता को जिस प्रकार हृदयगम किया, इसका उल्लेख स्वयं गीता में है। इस पर भी मूर्ख-शिरोमणि प्राकृत विद्वान् यह कहने की धृष्टता करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण की नहीं, अपितु 'श्रीकृष्ण में स्थित अजन्मा की ही शरण ग्रहण करनी चाहिये।' श्रीकृष्ण के आत्मा और देह में भेद नहीं है—इस सिद्धान्त को न जानते हुए भी जो भगवद्गीता को समझने का प्रयास करता है, वह निस्सन्देह परम मूर्ख है।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद -

यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ।

अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं

राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥

अनुवाद

मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों को सुखाने वाले इस महान

शोक को दूर कर सके। स्वर्गीय देवताओं के समान भूमि के सार्वभौम निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति होने पर भी मैं इस शोक को दूर नहीं कर सकूँगा॥८॥

सञ्जय उवाच ।

**एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप ।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह॥९॥**

अनुवाद

संजय ने कहा, शत्रुविजयी अर्जुन भगवान् श्रीकृष्ण से यह कहकर तथा फिर 'हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा', ऐसा कहकर चुप हो गया॥९॥

**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत ।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥१०॥**

अनुवाद

हे भरतवशी धृतराष्ट्र! उस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों सेनाओं के मध्य में उस शोकमग्न अर्जुन को हँसते हुए से यह वचन कहा॥१०॥

श्रीभगवानुवाच ।

**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥११॥**

अनुवाद

भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा, हे अर्जुन! पांडित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिए शोक कर रहा है जो शोक के योग्य नहीं है। पर पण्डितजन तो जिन के प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं, उनके लिये भी शोक नहीं करते॥११॥

तात्पर्य

श्रीभगवान् ने तत्काल गुरूपद ग्रहण कर लिया और शिष्य को परोक्ष रूप से मूर्ख कहकर उसका शासन किया। उन्होंने कहा कि हे अर्जुन! तू बोल तो पण्डितों के समान रहा है, परन्तु इतना भी नहीं जानता कि देहतत्त्व तथा आत्मतत्त्व के मर्म को जानने वाले पण्डितजन देह की जीवित अथवा मृत, किसी भी अवस्था के लिए शोक नहीं करते। जैसा अगले अध्यायों में वर्णन किया गया है, ज्ञान का अर्थ देह, आत्मा और उन दोनों के ईश्वर के तत्त्व को जानना है। अर्जुन का तर्क है कि राजनीति

अथवा समाजनीति की अपेक्षा धर्म का अधिक माहात्म्य है। परन्तु वह यह नहीं जानता कि आत्मा, देह तथा उनके ईश्वर का ज्ञान सामान्य धर्म से भी अधिक महत्व रखता है। उस ज्ञान को न जानने के कारण उसके लिए अपने को महापण्डित के रूप में प्रदर्शित करना उचित नहीं। अल्पज्ञतावश शोक के अयोग्य वस्तु के लिए भी वह अतिशय शोकाकुल हो रहा है। देह का जन्म हुआ है, अतः इसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। इसी कारण देह का महत्त्व आत्मा की महिमा के तुल्य नहीं है। जो इस नथ्य को जानता है, वही यथार्थ में पण्डित है, क्योंकि देह की किसी भी अवस्था में उसके लिये शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

अनुवाद

न तो ऐसा ही है कि किसी काल में मैं नहीं था, तू नहीं था अथवा ये सब राजा नहीं थे और न ही ऐसा है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥१२॥

तात्पर्य

वेद , कठ एवं श्वेताश्वतर उपनिषदों में कथन है कि भगवान् श्रीकृष्ण जीव को उसके कर्म तथा कर्मफल के अनुरूप विभिन्न योनियों प्रदान करते हुए असंख्य जीवों का परिणालन कर रहे हैं। वे अश-रूप से जीवमात्र के हृदय में स्थित हैं। उन परमेश्वर श्रीकृष्ण का बाहर-भीतर सर्वत्र दर्शन करने वाले सन्तजन ही यथार्थ में पूर्ण एव शाश्वती शान्ति का आस्वादन करते हैं।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीःस्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

(कठ० २२१३)

श्रीभगवान् ने अर्जुन के हृदय में जिस वैदिक सत्य का संचार किया, वही ससार के उन सब व्यक्तियों को प्रदान किया जाता है, जो महापण्डित का रूप तो धारण किए हुए हैं, परन्तु यथार्थ में अल्पज्ञ ही हैं। श्रीभगवान् स्पष्ट कह रहे हैं कि स्वयं उनका, अर्जुन का तथा युद्ध भूमि में एकत्र हुए सब राजाओं का अपना-अपना शाश्वत निजी स्वरूप है, जीवात्माओं की बद्ध एव मुक्त, दोनों ही अवस्थाओं में वे उन सबके भर्ता हैं। भगवान् परम पुरुष स्वरूप हैं तथा उनके नित्य पार्षद अर्जुन का और वहाँ एकात्रित हुए सब राजाओं का भी अपना-अपना शाश्वत स्वरूप है। ऐसा नहीं कि पूर्व

न उनका अपना-अपना अलग स्वरूप नहीं था, अथवा आगे नित्य नहीं रहेगा। उनका निजी स्वरूप पूर्व में भी था तथा भविष्य में भी निरन्तर रहेगा। इसलिए किसी के लिए जो एक का कोई युक्तिसंगत हेतु नहीं है।

मायावादियों का कहना है कि मायावरण के कारण पृथक् हुआ जीवात्मा मुक्ति के उपरान्त निर्विशेष ब्रह्म से मायुज्य प्राप्त कर अपना भिन्न स्वरूप खो बैठता है। परम प्रमाण भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ इस मत का खण्डन किया है। यहाँ इस मत का भी खण्डन है कि हम ब्रह्मावस्था में अपने भिन्न-स्वरूप की कल्पना मात्र कर लेते हैं। इस श्लोक में श्रीकृष्ण का स्पष्ट वक्तव्य है कि उपनिषदों के अनुसार श्रीभगवान् तथा जीवात्माओं के अपने-अपने स्वरूप भविष्य में भी नित्य विद्यमान रहेंगे। श्रीकृष्ण का यह कथन प्रामाणिक है, क्योंकि वे माया के आधीन नहीं हो सकते। यदि जीव और भगवान् से स्वरूप में द्वैत सत्य नहीं होता तो भगवान् श्रीकृष्ण उसे इतना महत्त्व नहीं देते। उन्होंने तो यहाँ तक कह दिया है भविष्य में भी स्वरूप-भेद बना रहेगा। मायावादी तर्क कर सकते हैं कि श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया स्वरूप-द्वैत आत्मा में नहीं है, अपितु प्राकृत है। परन्तु यदि स्वरूप-भेद को प्राकृत मान लिया जाय तो श्रीकृष्ण के स्वरूप का वैशिष्ट्य ही क्या रहेगा? श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि पूर्व में उनका अपना निशिष्ट स्वरूप था और भविष्य में भी सदा रहेगा। उन्होंने अपने निजी स्वरूप का विविध प्रकार से वर्णन किया है और निर्विशेष ब्रह्म को अपने आधीन घोषित किया है। श्रीकृष्ण का दिव्य निजी स्वरूप शाश्वत है। यदि उन्हे व्यष्टि-बुद्धि से युक्त साधारण वद्वर्गीय समझा जाय तो उनकी भगवद्गीता का प्रामाणिक शास्त्र के रूप में कुछ भी महत्त्व शेष नहीं रह जायगा। चार प्रकार के मानवीय दोषों वाला साधारण व्यक्ति श्रवणीय तत्त्व की शिक्षा देने के योग्य नहीं हो सकता। गीता ऐसे साहित्य की अपेक्षा परम उत्कृष्ट है। समार की कोई भी पुस्तक भगवद्गीता की तुलना नहीं कर सकती। श्रीकृष्ण को साधारण मनुष्य मानने पर गीता का यह सम्पूर्ण माहात्म्य विलुप्त हो जाता है। मायावादी तर्क करते हैं कि इस श्लोक में वर्णित द्वैत कृत्रिम है, उसका सम्बन्ध केवल देह से है। किन्तु इस श्लोक से पूर्व ही देहात्मवाद को तिरस्कृत किया जा चुका है। जीवों की देहात्मबुद्धि की निन्दा करके फिर श्रीकृष्ण के लिए देहात्मबुद्धि पर आधारित रुढ़िगत वक्तव्य का प्रतिपादन करना किस प्रकार सम्भव था? अतएव यह सिद्ध होता है तत्त्व के आधार पर भगवान् और जीव में स्वरूप-भेद (द्वैत) नित्य बना रहता है। श्रीरामानुज आदि सभी महान् वैष्णव आचार्यों ने इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। गीता में भी अनेक स्थलों पर उल्लेख है कि यह स्वरूप-ज्ञान केवल भगवद्भक्तों को हो सकता है। जो व्यक्ति भगवान् श्रीकृष्ण से द्वेष करते हैं, उनका

इस महान् ग्रन्थ में कोई अधिकृत प्रवेश नहीं हो सकता। गीतोपदेश के अभक्तों की प्रवृत्ति मधुपात्र पर मँडराते मधुकरों के समान है। पात्र को खोले बिना मधु का आस्वादन नहीं किया जा सकता। इसी भाँति गीता के मर्म का ज्ञान भक्तों को ही हो सकता है; अन्य कोई गीतामृत का रस नहीं ले सकता, जैसा कि चौथे अध्याय में स्पष्ट किया है। श्रीभगवान् की सत्ता से द्वेष करने वाले तो गीता का स्पर्श तक नहीं कर सकते। अतएव गीता की मायावादी व्याख्या समग्र सत्य की परम प्रातिकारक व्याख्या है। श्रीचैतन्य महाप्रभु ने मायावादियों द्वारा रचित भाष्यों के पठन-पाठन का निषेध करते हुए चेतावनी दी है कि जो मायावादी असद्-दर्शन को ग्रहण कर लेता है, वह गीता के सच्चे रहस्य-ज्ञान को हृदयंगम करने की सम्पूर्ण सामर्थ्य खो बैठता है। यदि स्वरूप-भेद (द्वैत) का सम्बन्ध अनुभवगम्य ब्रह्माण्ड से ही होता, तो श्रीभगवान् के लिए स्वयं गीतोपदेश करने का कोई प्रयोजन नहीं था। जीवात्मा तथा श्रीभगवान् में द्वैत शाश्वत् सत्य है और उपरोक्त कथन के अनुसार वेदों में इसकी पुष्टि है।

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ।।१३।।

अनुवाद

जिस प्रकार बद्धजीव को इस देह में क्रम से कौमार, यौवन तथा वृद्धावस्था की प्राप्ति होती है, उसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है। स्वरूपज्ञानी धीर पुरुष इससे मोहित नहीं होता ।।१३।।

तात्पर्य

प्रत्येक जीवात्मा का अपना निजी स्वरूप है। उसके देह में नित्य-निरन्तर परिवर्तन होता रहता है— क्रमशः कौमार, यौवन तथा जरा की अभिव्यक्ति होती है। परन्तु इन सब प्रकार की अवस्थाओं में आत्मा स्वयं परिवर्तनरहित (अनामय) रहता है। अन्त में, देहान्त हो जाने पर यह जीवात्मा देहान्तर करता है, अन्य देह में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार अगले जन्म में भी आत्मा को प्राकृत अथवा अप्राकृत, किसी न किसी देह की प्राप्ति अवश्य होगी, यह निश्चित है। इसलिए भीष्म-द्रोण की सम्भावित मृत्यु के लिए अर्जुन के शोक का कोई भी कारण नहीं। वे जीर्ण देह को त्याग कर नूतन देह को धारण करने से नवशक्ति युक्त हो जायेंगे, इस विचार से उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। देहान्तर कर्मानुसार विविध सुख-दुःख भोगने का निमित्त सिद्ध होता है। महात्मा भीष्म तथा द्रोण को अगले जन्म में भगवद्धाम की प्राप्ति अथवा कम से कम स्वर्गाधि श्रेष्ठ भौतिक सुख की उपलब्धि तो अवश्य ही होगी। इन में से किसी

भी अवस्था के लिए शोक का कोई कारण नहीं हो सकता।

जीवात्मा, परमात्मा तथा परा-अपरा प्रकृति के स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाला धीर कहलाता है। ऐसा पुरुष देहान्तर से व्याकुल नहीं होता। मायावादियों का एकात्मवाद मान्य नहीं है, क्योंकि आत्मतत्त्व को पृथक् अंशों में विभक्त नहीं किया जा सकता। यदि यह मान लिया जाय कि एक परमात्मा ही नाना जीवों के रूप में विभक्त हो गये हैं, तो वे परिवर्तनशील सिद्ध होते हैं, जो सर्वथा सिद्धान्तविरुद्ध है।

गीता का प्रमाण है कि जीव परतत्त्व के सनातन भिन्न-अंश हैं। अपरा प्रकृति (माया) में पतनशील होने से वे 'क्षर' कहलाते हैं। ये भिन्न-अंश नित्य भिन्न रहते हैं, मुक्ति हो जाने पर भी जीवात्मा परमात्मा से भिन्न-स्वरूप रहते हैं। किन्तु साथ ही, मुक्त होने पर श्रीभगवान् के सान्निध्य में वे सच्चिदानन्दमय जीवन का रसास्वादन करते हैं। प्रत्येक जीव-देह में जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा के अस्तित्व को प्रतिबिम्ब के उदाहरण से समझा जा सकता है। जल में आकाश के प्रतिबिम्बित होने पर सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्रों की भी उसमें छाया पड़ती है। जीवात्मा तारों के समान हैं, जबकि परमेश्वर सूर्य अथवा चन्द्र के तुल्य हैं। अर्जुन भिन्न-अंश जीवात्मा का प्रतीक है और परमेश्वर हैं स्वयं श्रीकृष्ण। ये दोनों एक स्तर पर नहीं हैं जैसा चौथे अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है। यदि यह मान लिया जाय कि अर्जुन श्रीकृष्ण के समकक्ष है, अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से श्रेष्ठ नहीं हैं, तो गुरु-शिष्य के रूप में उनका सम्बन्ध निरर्थक हो जायगा। यदि दोनों माया-मोहित हैं तो एक के द्वारा दूसरे का गुरु बनकर उसे शिक्षा देना सर्वथा अप्रयोजनीय होगा, क्योंकि जो स्वयं मायाबद्ध है, उसका उपदेश प्रामाणिक नहीं हो सकता। अस्तु, वस्तुस्थिति से यह निर्णय होता है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं और माया-समोहित स्मृतिलुप्त जीवात्मा अर्जुन से सदा अति श्रेष्ठ है।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥

अनुवाद

हे कुन्तीनन्दन ! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से होने वाली सुख-दुःख की प्राप्ति सर्दी-गर्मी के आने जाने के समान ही अनित्य और क्षणभंगुर है। इसलिए हे अर्जुन ! उनको विचलित हुए बिना सहने का अभ्यास कर ॥१४॥

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।

समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥

अनुवाद

हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन ! जो सुख-दुःख को समान समझकर इन दोनों से व्याकुल नहीं होता, वह धीर पुरुष निश्चित रूप से मुक्ति के योग्य है।।१५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।

उभयोरपि द्रष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।१६।।

अनुवाद

असत् का तो चिरस्थायी अस्तित्व नहीं होता तथा सत् का कभी अन्त नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानियो ने इन दोनों के तत्त्व का निर्णय किया है।।१६।।

तात्पर्य

देह परिवर्तनशील होने से चिरस्थायी नहीं है। आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान भी स्वीकार करता है कि विभिन्न कोशिकाओं की क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण देह प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है। इसी कारण यह वृद्धि और वृद्धावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु देह तथा मन में परिवर्तन होने पर भी आत्मा नित्य अव्यय रहता है। यही जड़ प्रकृति और आत्मा का भेद है। स्वभावतः देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। 'निर्विशेष' और 'सविशेष' आदि सब प्रकार के तत्त्वदर्शियो ने इस सिद्धान्त को माना है। 'विष्णुपुराण' में उल्लेख है कि श्रीविष्णु और उनके सब लोकों की स्वयंप्रकाश चिन्मय सत्ता है—**ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुः। सत्** शब्द आत्मा का और **असत्** जड़ प्रकृति का वाचक है। सभी ज्ञानीजन इसमें एकमत हैं।

यहाँ से अज्ञान-मोहित जीवों के कल्याणार्थ श्रीभगवान् का मंगलमय सदुपदेश प्रारम्भ होता है। अज्ञान-अपहरण से आराधक एव आराध्य में नित्य सम्बन्ध की पुनर्स्थापना हो जाती है, जिससे भिन्न-अश जीव एव परमेश्वर श्रीकृष्ण में जो भेद है, वह जाना जाता है। परतत्त्व का स्वरूप पूर्ण स्वाध्याय (आत्म-अध्ययन) करने से जाना जा सकता है, क्योंकि जीव और परमेश्वर का भेद अश तथा अशी के भेद के समान है—जीव परमेश्वर का भिन्न-अश है। वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भागवत में भी परतत्त्व को वस्तुमात्र का मूल स्वीकार किया गया है। इनका अनुभव परा और अपरा प्रकृति के क्रम से होता है। सातवे अध्याय में कहा है कि जीव परा प्रकृति के भिन्न-अश है। शक्तिमान् एव शक्ति में अभेद होते हुए भी शक्तिमान् परतत्त्व है, जबकि शक्ति अर्थात् प्रकृति उसकी वशवर्तिनी है। अतएव सेवक और शिष्य के जैसे जीवात्मा नित्य परमेश्वर श्रीकृष्ण के आधीन रहते हैं। अज्ञानावस्था में इस शुद्ध ज्ञान को ग्रहण नहीं किया जा सकता। अतः अज्ञान का नाश कर जीवमात्र को सदा के लिए

प्रबुद्ध कर देने के लिए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र भगवद्गीता रूपी शिक्षामृत का परिवर्षण कर रहे हैं।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।

विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥१७॥

अनुवाद

अविनाशी तो उसको जान, जो सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। इस अव्यय आत्मा का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है ॥१७॥

तात्पर्य

इस श्लोक में सम्पूर्ण देह में व्याप्त आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप का आधिक स्पष्ट वर्णन है। यह सत्य सभी के अनुभव में आता है कि सम्पूर्ण देह में एक ही चैतन्य तत्त्व व्याप्त है। सम्पूर्ण देह के अथवा किसी एक शरीरांग के सुख-दुःख का बोध जीवमात्र को होता रहता है। परन्तु देह में चैतन्य की यह व्याप्ति व्यष्टि-शरीर तक सीमित है। किसी एक प्राणी के देहगत सुख-दुःख का बोध अन्य को नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक देह में एक-एक आत्मा आबद्ध है, जिसका अनुभव व्यष्टि-चेतन रूप में हुआ करता है। इस आत्मा का माप केश के अग्रभाग के १०,००० वें भाग के बराबर कहा गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में इस मत्स्य का प्रमाण है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥

“आत्मा का माप केश की नोक के सौवें भाग के शतांश के बराबर है।” (श्वे० ५९) इसी भाँति, श्रीमद्भगवत में भी उल्लेख है

केशाग्रशतभागस्य शतांशः सदृशात्मकः ।

जीवः सूक्ष्मस्वरूपोऽयं संख्यतीतो हि चित्कणः ॥

“विस्तार में केश की नोक के १०,००० वें अंश के तुल्य असंख्य आत्मकण हैं।”

इस प्रकार चिन्मय आत्मकण प्राकृत परमाणु से भी सूक्ष्म विस्तार वाला है। साथ ही, ऐसे असंख्य आत्मकण हैं। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्म-स्फुलिंग प्राकृत देह का प्रधान आधार है, औषधि के क्रियाशील तत्त्व के समान इसका प्रभाव भी सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहता है। आत्मा का यह प्रभाव देह में चेतना के रूप में अनुभूत होता है यह आत्म के अस्तित्व का प्रमाण है। साधारण बुद्धि वाला भी जानता है कि

चेतना-शून्य प्राकृत देह मृत हो जाती है; किसी भी प्राकृत उपचार से उसमें चेतना का फिर संचार नहीं किया जा सकता। यह प्रत्यक्ष है कि चेतना का कारण कोई प्राकृत सम्मिश्रण नहीं है, अपितु आत्मा है। मुण्डकोपनिषद् में आत्मा के स्वरूप का अधिक वर्णन है:

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश।

प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।

“अणु विस्तार”वाला आत्मा बुद्धियोग से जाना जाता है। पंचप्राणों (प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान) में तैरता हुआ यह अणु-आत्मा हृदय में स्थित रहकर बद्धजीव के सम्पूर्ण शरीर में अपना प्रभाव विकीर्णित करता है। पंचप्राणों के दोषों से आत्मा के मुक्त होने पर ही उसका दिव्य स्वरूप प्रकट होता है।” (मुण्ड० ३.१.९)

हठयोग का प्रयोजन विविध आसनों के द्वारा उन पञ्चप्राणों का निग्रह करना है, जिनसे शुद्धस्वरूप आत्मा घिरा हुआ है। यह साधन लौकिक लाभ के लिए नहीं, भय-परिवेश से अणु-आत्मा की मुक्ति के लिए किया जाता है।

इस प्रकार, अणु-आत्मा का चिन्मय स्वरूप सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय में स्वीकार किया गया है। वस्तुतः सुधिजनों को इसका प्रत्यक्ष अनुभव भी प्राप्त है। अतएव जो अणु-आत्मा को सर्वव्यापक विष्णुतत्त्व कहता है, वह अवश्य उन्मत्त है।

अणु-आत्मा का प्रभाव किसी एक देह में ही व्याप्त रहता है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार, यह अणु-आत्मतत्त्व सब जीवों के हृदय में स्थित है। ससार के वैज्ञानिकों के लिए यह सर्वथा अप्रमेय है। इसी कारण उनमें से कुछ अपनी मूर्खता का परिचय देते हुए आत्मा के स्वरूप का निराकरण तक करने का दुस्साहस कर बैठते हैं। परमात्मा के साथ अणु-जीवात्मा भी निश्चित रूप से देह के हृद्देश में विद्यमान है। शरीर की क्रिया-शक्ति का यही उद्गम-स्थान है। फेफड़ों से आक्सीजन का संवहन करने वाले कोश आत्मा से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। इस स्थान से आत्मा के हट जाने पर संलयन के कारण रुधिर-क्रिया का निवर्तन हो जाता है। चिकित्सा विज्ञान रक्तकोशों का महत्त्व तो स्वीकार करता है, पर वह यह जान पाने में समर्थ नहीं है कि उन कोशों का शक्ति-स्रोत आत्मा है। तथापि, चिकित्सा विज्ञान इतना तो स्वीकार करता ही है कि सब शारीरिक शक्तियों का केन्द्र हृदय है।

परमात्मा के ये अणु-अंश सूर्यज्योति के परमाणुओं के तुल्य हैं। सूर्यज्योति में संख्यातीत जाज्वल्यमान् परमाणु रहते हैं। इसी भाँति परमेश्वर श्रीकृष्ण के भिन्न-अंश उनकी प्रभा नामक परा प्रकृति के अणु-अंश हैं। वैदिक ज्ञान तथा आधुनिक विज्ञान,

दोनों देह में आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं करते। भगवद्गीता में तो भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं आत्मविद्या का विशद प्रतिपादन किया है।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिणः ।

अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥

अनुवाद

इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य रहने वाले आत्मा की प्राकृत देह ही नाशवान् है। अतएव हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥१८॥

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥

अनुवाद

जो इस आत्मा को मारने वाला मानता है, और जो इसे मरा हुआ समझता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं। यथार्थ ज्ञानी जानता है कि यह आत्मा न तो मारता है और न ही कभी मारा जाता है ॥१९॥

तात्पर्य

देह पर किसी घातक शस्त्र का आघात होने पर भी देह में बद्ध जीवात्मा की मृत्यु नहीं होती। जैसा पूर्व श्लोको में सिद्ध किया जा चुका है, जीवात्मा इतना सूक्ष्म है कि किसी भी प्राकृत शस्त्र से उसका वध नहीं किया जा सकता। अपने अप्राकृत स्वरूप के कारण जीवात्मा अवध्य है। मृत्यु तो केवल देह की ही होती है। किन्तु इसका तात्पर्य देहहिंसा को प्रोत्साहित करना नहीं है। वैदिक निर्देश है, माहिंस्यात् सर्वभूतानि, 'किसी भी जीव की हिंसा कभी न करे।' आत्मा अवध्य है, इसका यह अर्थ नहीं कि पशुहिंसा की जाय; किसी भी जीवदेह की अनाधिकार हत्या करना निन्द्य है एवं राज्य और भगवत्-विधान के अनुसार दण्डनीय भी है। परन्तु अर्जुन को तो वध में धर्म के उद्देश्य से नियुक्त किया जा रहा है, स्वच्छन्दतापूर्वक नहीं।

न जायते प्रियते वा कदाचिन्

नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

अनुवाद

आत्मा किसी भी काल में न तो जन्मता है और न मरता ही है। तथा एक बार होकर यह कभी नष्ट भी नहीं होता। यह नित्य, अजन्मा, शाश्वत् और पुरातन है। देह के मारे जाने पर भी आत्मा नहीं मारा जाता।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

अनुवाद

हे पार्थ ! जो आत्मा को नित्य अविनाशी, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह किस प्रकार किसी को मार सकता है अथवा मरवा सकता है।।२१।।

तात्पर्य

प्रत्येक पदार्थ की अपनी समुचित उपयोगिता होती है। पूर्ण ज्ञानी की यह विशेषता है कि वह देशकाल के अनुसार पदार्थों का यथोचित उपयोग करना जानता है। हिंसा की भी उपयुक्तता है, परन्तु उसका उचित उपयोग ज्ञानी पर निर्भर करता है। हत्यारे को प्राणदण्ड देने वाले न्यायाधीश को दोषी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि न्याय-संहिता के अनुसार ही वह किसी की हिंसा का विधान करता है। मानवमात्र के धर्म-शास्त्र 'मनुसंहिता' में कथन है कि हत्यारे को प्राणदण्ड देना उचित है, जिससे पुनर्जन्म में वह उस महान् पापकर्म का फल भोगने को बाध्य न हो। हत्यारे को प्राणदण्ड की राजाज्ञा वास्तव में उसके लिए कल्याणकारी सिद्ध होती है। इसी भाँति, जब श्रीकृष्ण युद्ध करने की आज्ञा दत है तो यह निश्चित समझना चाहिए कि इस प्रसंग में हिंसा का उद्देश्य परम न्याय के लिए है। अतः अर्जुन को यह भली-भाँति जान लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण के लिए युद्ध में हुई हिंसा वास्तव में हिंसा नहीं है और इस ज्ञान से युक्त होकर भगवान् की इस आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए। आत्मा सर्वथा अवध्य है। इस कारण न्याय के हेतु हिंसा की जा सकती है। शल्यक्रिया का प्रयोजन रोगी को स्वास्थ्य-लाभ कराना है, मारना नहीं। श्रीकृष्ण की शिक्षानुसार अर्जुन की युद्धक्रिया पूर्ण ज्ञान से युक्त है। इसलिए उससे कुछ भी पापफल नहीं बन सकता।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय

नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।

तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-

न्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

अनुवाद

जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने जीर्ण शरीरों को त्याग कर नूतन देह ग्रहण करता है।।२२।।

तात्पर्य

अणु-जीवात्मा देहान्तर करता है—यह एक स्वीकृत सत्य है। हृदय से शक्ति का उद्गम किस प्रकार होता है, यह न बता सकने पर भी आधुनिक वैज्ञानिक आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते। पर वे तक यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि शैशव से कौमार, कौमार से यौवन तथा यौवन से जरा के रूप में देह में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। अन्त में वृद्धावस्था के अनन्तर देहान्तर हो जाता है। इसका वर्णन पूर्व श्लोक में किया जा चुका है।

अणु-आत्मा परमात्मा की कृपा से ही देहान्तर करता है। जिस प्रकार सखा सखा की इच्छा की पूर्ति करता है, उसी भाँति परमात्मा भी जीवात्मा की अभीप्सा पूर्ण करते है। वेद, 'मुण्डक' तथा 'श्वेताश्वतर' उपनिषदों में जीवात्मा और परमात्मा को एक वृक्ष पर बैठे हुए दो मित्र पक्षियों की उपमा दी गई है। उनमें से एक (अणु-जीवात्मा) वृक्ष के फलों को खा रहा है, जबकि दूसरा पक्षी (श्रीकृष्ण) केवल अपने उस सखा को देखता रहता है। चिद्गुणो मे समान होते हुए भी एक पक्षी तो विषय-वृक्ष के फलों से मोहित हो जाता है, जबकि दूसरा उस सखा की क्रियाओं का साक्षीमात्र है। श्रीकृष्ण साक्षी पक्षी हैं और अर्जुन फल-भोक्ता पक्षी है। सखा होने पर भी उनमें से एक स्वामी है और दूसरा सेवक। अणु-जीवात्मा का इस सम्बन्ध को भुला देना ही उसके एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर जाने अर्थात् देहान्तर में कारण है। प्राकृत देहरूपी वृक्ष पर जीवात्मा जीवन के लिए घोर संघर्ष कर रहा है। किन्तु दूसरे पक्षी को परम गुरु स्वीकार करते ही, अर्थात् अर्जुन के समान शिक्षा प्राप्ति के लिए स्वेच्छापूर्वक भगवान् श्रीकृष्ण के शरणागत होते ही परतन्त्र पक्षी (जीव) सम्पूर्ण शोक से तुरन्त मुक्त हो सकता है। कठ और श्वेताश्वतर उपनिषदों में इसकी भी सपुष्टि है:

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।

जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति तीतशोकः।।

एक वृक्ष पर बैठे दोनों पक्षियों में से जो पक्षी वृक्ष के फल का भोक्ता है, वह उद्वेग-विषाद से पूर्ण हो रहा है। यदि वह किसी प्रकार अपने सखा श्रीभगवान् के सम्मुख होकर उनकी महिमा को धारण कर ले तो अविलम्ब शोकमुक्त हो

जाय। अर्जुन भी इस समय अपने नित्य सखा भगवान् श्रीकृष्ण के सम्मुख होकर उनसे भगवद्गीता का ज्ञान प्राप्त कर रहा है। इस भाँति स्वयं श्रीकृष्ण से श्रवण करके उनके परम माहात्म्य को हृदयंगम करने से वह निस्सन्देह शोकमुक्त हो जायगा।

श्रीभगवान् ने इस श्लोक में अर्जुन को परामर्श दिया है कि वह अपने वृद्ध पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोण के देहान्तर करने पर शोक न करे। उनका तर्क है कि धर्मयुद्ध में उनके कलेवरों का वध करके उन्हें नाना प्रकार के देहजन्य पापों से मुक्त कर देने में उसे तो प्रसन्न ही होना चाहिए। यज्ञाहुति अथवा धर्मयुद्ध में प्राण-विसर्जन करने वाला सकल देहजनित पापों से अविलम्ब मुक्त हो जाता है और उच्चलोक प्राप्त करता है। इस कारण अर्जुन के शोक का कोई भी युक्तिसम्मत हेतु नहीं है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥

अनुवाद

इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती ॥२३॥

अच्छेद्योऽयमदाहोऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥२४॥

अनुवाद

यह आत्मा अच्छेद्य है, अक्लेद्य, है, अदाह्य और अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, अविकारी, स्थिर रहने वाला तथा सनातन है ॥२४॥

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

अनुवाद

यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य तथा अविकारी कहा जाता है। इसे ऐसा जानकर तुझे देह के लिए शोक नहीं करना चाहिए ॥२५॥

तात्पर्य

पूर्ववर्णन के अनुसार, आत्मा का विस्तार हमारी लौकिक गणना के लिए इतना सूक्ष्म है कि सबसे शक्तिशाली अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा भी उसे देखा नहीं जा सकता। वह वस्तुतः अदृश्य ही है। अतः श्रुतिप्रमाण के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोग के द्वारा उसके अस्तित्व को सिद्ध नहीं किया जा सकता। हमें यह सत्य स्वीकार करना

होगा कि आत्मा के अस्तित्व के ज्ञान का कोई अन्य स्रोत नहीं है, यद्यपि यह एक अनुभवगम्य सत्य है। ऐसे अनेक तथ्य हैं जिन्हें उच्च प्रमाण के आधार पर ही स्वीकार करना पड़ता है। पिता का अस्तित्व माता के प्रमाण पर आधारित है; उसका निराकरण कोई नहीं कर सकता। मातृ-प्रमाण के अतिरिक्त पिता को जानने का कोई अन्य साधन नहीं है। इसी प्रकार आत्मज्ञान केवल वेदाध्ययन से होता है। भाव यह है कि मानवीय प्रयोगात्मक ज्ञान के लिए आत्मा सर्वथा अचिन्त्य है। हमें वेद के इस सिद्धांत को भी स्वीकार करना होगा कि आत्मा चेतना भी है और चैतन्य भी। शरीर के धर्म के विपरीत, आत्मा नित्य अविकारी है; उसमें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि अनन्त विभु-आत्मा की तुलना में आत्मा सदा अणु-तुल्य रहता है। विभु-आत्मा अनन्त है, जबकि जीवात्मा अणुतम है। आत्मतत्त्व में विकार नहीं होता, इसलिए अणु-जीवात्मा और अनन्त-आत्मा (भगवान्) का यह सम्बन्ध शाश्वत् है, अर्थात् जीव श्रीभगवान् के तुल्य कभी नहीं हो सकता। आत्मा का पृथक् शाश्वत् स्वरूप है, इस सत्य को असदिग्ध रूप से स्थापित करने के लिए वेद में इस सिद्धांत की नाना रूपों में पुनरुक्ति की गयी है। किसी-किसी तत्त्व के निर्दोष और पूर्ण ज्ञान के लिए यह आवश्यक होता है कि उसकी पुनरावृत्ति की जाय।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।

तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

अनुवाद

यदि तू इस आत्मा को नित्य जन्मने और नित्य मरने वाला भी माने, तो भी हे महाबाहु ! तैरे लिए शोक का कोई कारण नहीं है ॥२६॥

तात्पर्य

मानव समाज में दार्शनिकों का एक ऐसा दल सदा रहा है, जो बौद्धों के ही समान यह नहीं मानता कि देह से परे आत्मा का कोई पृथक् स्वरूप भी है। प्रतीत होता है कि जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का प्रवचन किया, उस समय भी इस कोटि के दार्शनिक विद्यमान थे। उन्हें 'लोकायतिक' और 'वैभाषिक' कहा जाता था। इन दार्शनिकों के मत में प्राकृत तत्त्वों के सम्मिश्रण की एक विशेष परिपक्व अवस्था में जीवन-लक्षण (चेतना) अथवा आत्मा की उत्पत्ति होती है। आधुनिक वैज्ञानिक एवं दार्शनिकों की भी प्रायः यही विचारधारा है। उनके अनुसार, शरीर की रचना केवल स्थूल तत्त्वों से हुई है तथा एक विशेष अवस्था में स्थूल तथा रासायनिक तत्त्वों की अन्तः क्रिया से जीवन-लक्षण प्रकट होते हैं। मानवीय संरचना-विज्ञान इसी

मत पर आधारित है। आजकल पाश्चात्य जगत् में लोकप्रिय हो रहे अनेक प्रकार के कपट-धर्म भी इस मत का और शून्यवाद को मानने वाले अभक्त बौद्धों का अनुसरण कर रहे हैं।

यदि वैभाषिक मत के अनुसार अर्जुन का आत्मा के अस्तित्व में विश्वास नहीं है, तो भी शोक का कोई हेतु नहीं बनता। रसायनों की थोड़ी सी मात्रा के लिए शोक से विह्वल होकर कोई अपने कर्तव्य-कर्म का त्याग नहीं करता। आधुनिक विज्ञान तथा युद्ध में तो शत्रु-विजय के लिए रसायनों को बड़ी मात्रा में नष्ट किया जाता है। वैभाषिक दर्शन का कहना है कि शरीर का क्षय होने के साथ ही तथाकथित आत्मा भी नष्ट हो जाता है। अतएव अर्जुन वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अणु-आत्मा के अस्तित्व को माने अथवा न माने, दोनों ही स्थितियों में उसके लिये शोक का कोई युक्तिसंगत कारण नहीं है। वैभाषिक मत के अनुसार प्रतिक्षण अनेक आत्माओं की जड़ प्रकृति से उत्पत्ति होती रहती है और अनेक का निरन्तर नाश भी होता रहता है, इसलिए ऐसे प्रसंग में शोक करना सर्वथा अप्रयोजनीय है। पितामह एव गुरु के वध से बनने वाले पाप की आशंका से भयभीत होना भी अर्जुन के लिए हेतुसंगत नहीं, क्योंकि इस दर्शन के अनुसार आत्मा का पुनर्जन्म तो होता ही नहीं। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को व्यगर्पूर्वक महाबाहु सम्बोधित किया, क्योंकि इस वैभाषिक मत को, जो वैदिक ज्ञान के बिल्कुल प्रतिकूल है, वे स्वीकार नहीं करते। अर्जुन क्षत्रिय है, इसलिए वैदिक मस्कर्त का अनुयायी है। अतएव वैदिक सिद्धांतों का अनुसरण करते रहना ही उसके लिए योग्य होगा।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।

तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

अनुवाद

जिसका जन्म हुआ है, उसकी मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का पुनर्जन्म भी निश्चित है। अतएव इस अनिवार्य स्वधर्म-पालन में तू शोक करने के योग्य नहीं है ॥२७॥

तात्पर्य

जीवमात्र अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है। इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर मरकर अगली के लिए पुनर्जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता ही रहता है। परन्तु जन्म-मृत्यु की नित्यता का यह अर्थ नहीं कि अप्रयोजनीय हत्या, वध तथा युद्ध आदि हिंसा-कर्म किए जायें। साथ ही, मानव समाज में नियम तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये हिंसा और

युद्ध करना कभी-कभी अपरिहार्य भी हो जाता है।

भगवत्-इच्छावश कुरुक्षेत्र का युद्ध अवश्यंभावी था और सत्य के लिये युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म भी है। अतः स्वधर्माचरण में सम्भावित स्वजन-वध से भय अथवा शोक उसे क्यों हो ? अर्जुन विधि-विधान के पालन में प्रमाद करने के योग्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करने पर वह उसी पाप से लिप्त हो जायगा, जिसकी आशकामात्र से उसे भय का अनुभव हो रहा है। परिस्थितियों से स्पष्ट है कि स्वधर्माचरण से विमुख हो जाने पर भी स्वजनों की मृत्यु का परिहार तो वह कर नहीं सकेगा अपितु विकर्म-दोष से अधःपतन को ही प्राप्त होगा।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।

अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिवेदना ॥२८॥

अनुवाद

सभी प्राणी जन्म से पूर्व अव्यक्त रहते हैं, और निधन होने पर फिर से अव्यक्त हो जाते हैं। केवल मध्य में ही व्यक्त होते हैं, फिर इसमें शोक का क्या कारण है ? ॥२८॥

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन-

माश्चर्यवद्ब्रूयति तथैव चान्यः ।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः ब्रूणोति

श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥

अनुवाद

कोई महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है, वैसे ही दूसरा कोई इसके तत्त्व का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है; कोई-कोई इसका आश्चर्य की भाँति श्रवण करता है और कोई-कोई तो श्रवण करने पर भी इसे नहीं जानता ॥२९॥

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।

तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥

अनुवाद

हे भरतवंशी अर्जुन ! देह में निवास करने वाला आत्मा कभी नहीं मारा जा सकता। इसलिये किसी भी प्राणी के लिए तू शोक करने के योग्य नहीं है ॥३०॥

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥

अनुवाद

अपने क्षत्रिय धर्म पर विचार करके भी तू यह जान ले कि तेरे लिए धर्ममय युद्ध से श्रेष्ठ दूसरा कोई कल्याण का साधन नहीं है। अतः युद्ध रूपी स्वधर्म में संकोच करने का कोई कारण नहीं है।।३१।।

यदृच्छ्या चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुरिवनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।।३२।।

अनुवाद

हे पार्थ ! वे क्षत्रिय सुखी हैं, जिन्हें इस प्रकार के युद्ध का अवसर अपने आप प्राप्त होता है, क्योंकि यह तो स्वर्ग के खुले हुए द्वार के समान है।।३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ।।३३।।

अनुवाद

इस पर भी यदि तू इस धर्ममय युद्ध को नहीं करेगा तो निश्चित रूप से स्वधर्म-पालन में प्रमाद करने से होने वाले पाप को प्राप्त होगा और योद्धा के रूप में अपनी कीर्ति भी खो बैठेगा।।३३।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।।३४।।

अनुवाद

सब लोग भी सदा तेरे अपयश का कथन करेंगे। सम्मान्य व्यक्ति के लिए तो अपकीर्ति मृत्यु से भी अधिक मन्द होती है।।३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ।।३५।।

अनुवाद

तेरे नाम और यश का सम्मान करने वाले महारथी भी तुझे भयवश ही युद्ध से उपरत हुआ मानेंगे। इस भौति तू कायर समझा जायगा।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः ।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ।।३६।।

अनुवाद

तेरे शत्रु भी बहुत से अपशब्द कहकर तेरी सामर्थ्य का उपहास करेंगे। इससे

अधिक दुःख तेरे लिए फिर और क्या होगा ? ॥३६॥

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥

अनुवाद

हे कुन्तीपुत्र ! यदि तू युद्ध में मारा गया तो स्वर्ग को प्राप्त होगा और यदि जीत गया तो पृथ्वी के साम्राज्य का उपभोग करेगा । इसलिए खड़ा होकर दृढतापूर्वक युद्ध कर ॥३७॥

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।

ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥

अनुवाद

सुख-दुःख, हानि-लाभ तथा जय-पराजय को समान समझकर निष्काम भाव से युद्ध कर । ऐसा करने पर तू पाप से कलुषित नहीं होगा ॥३८॥

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्पष्ट रूप से युद्ध के लिये ही, अर्थात् निष्काम भाव से युद्ध करने की आज्ञा दे रहे हैं, क्योंकि उनकी ऐसी ही इच्छा है । कृष्णभावनाभावित क्रियाओं में सुख-दुःख, हानि-लाभ जय-पराजय का विचार नहीं किया जाता । प्रत्येक क्रिया को श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए करना बुद्धियोग कहलाता है । इस प्रकार से प्राकृत कर्म करने पर भी बन्धन नहीं होता । जो निजेन्द्रियतृप्ति के लिए सात्त्विक अथवा राजस कर्म करता है, उसी को शुभ-अशुभ कर्मफल मिलता है, परन्तु जो पूर्ण रूप से श्रीकृष्णभावनाभावित क्रियाओं के ही शरणागत हो गया है, वह भक्त साधारण जीवन-पद्धति के समान किसी का भी ऋणी अथवा किकर नहीं रहता । शास्त्र-वचन (भागवत ११.५.४१) है

देवर्षिभूताप्तनृणा पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन् ॥

सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम् ॥

“अन्य सब कर्तव्यों को त्याग कर जो मनुष्य अचन्यभाव से मुक्तिदाता श्रीकृष्ण के ही शरणागत हो जाता है, उसका देवताओं, अन्य सब प्राणियों, स्वजनो, मानव जाति और पितरों के प्रति कुछ भी कर्तव्य अथवा ऋण शेष नहीं रहता ।” उपरोक्त श्लोक में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी तथ्य का संकेत किया है । अगले श्लोकों में इस सिद्धान्त का अधिक विशद वर्णन है ।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥

अनुवाद

यहाँ तक मैंने तेरे लिए सांख्य-दर्शन का वर्णन किया। अब उस बुद्धियोग का श्रवण कर जिससे निष्काम कर्म किया जाता है। हे पार्थ ! इस बुद्धियोग से युक्त होकर कर्म करने पर तू कर्म-बन्धन से सदा के लिए मुक्त हो जायगा ॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥

अनुवाद

कृष्णभावना के लिये जो कुछ भी साधन किया जाता है, उसका न तो कभी नाश होता और न ह्रास ही होता है। इस पथ में की गई अल्प प्रगति भी महान् भय से रक्षा कर लेती है ॥४०॥

तात्पर्य

अपनी इन्द्रियों को तृप्त करने की इच्छा को त्यागकर कृष्णभावनाभावित कर्म करना, अर्थात् श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिये कर्म करना सर्वश्रेष्ठ दिव्य क्रिया है। यदि ऐसे कर्म को छोटे से रूप में ही प्रारम्भ किया जाय, तो भी उसमें न तो कोई बाधा आती है और न ही कभी उसका नाश होता है। यह नियम है कि किसी प्राकृत क्रिया को प्रारम्भ करके पूर्ण करना आवश्यक है, अन्यथा सम्पूर्ण प्रयास विफल हो जाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म की यह विशेषता है कि अपूर्ण रह जाने पर भी उसका चिरस्थायी फल होता है। अतः कृष्णभावनाभावित कर्म करने वाले की किसी भी दशा में हानि नहीं होती। यदि कृष्णभावनाभावित कर्म केवल एक प्रतिशत ही पूर्ण हुआ हो, तो भी उसका मनातन फल होगा, जिससे पहले किये हुए की आवृत्ति किये बिना, भविष्य में उत्तरोत्तर आगे उन्नति की जा सकती है। इसके विपरीत, प्राकृत कर्म जब तक शत-प्रतिशत पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक उससे कुछ लाभ नहीं होता। अजामिल ने कृष्णभावना विषयक साधन का अभ्यास एक अंश में ही किया था, परन्तु मृत्यु समय भगवत्कृपा से उसे पूर्णफल की प्राप्ति हुई। इस सन्दर्भ में श्रीमद्भागवत में एक सुन्दर श्लोक है

त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्ऽपक्वोऽथ पतत्ततो यदि ।

यत्र क्व वाधद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः ॥

‘विषय भोग को त्याग कर जो कृष्णभावनाभावित कर्म करता है, वह यदि कार्य-पूर्ति न कर पाने से पतित भी हो जाय, तो उसे क्या हानि ? इसके विपरीत,

प्राकृत क्रियाओं को पूर्ण करने से क्या लाभ होगा?' (श्रीमद्भगवत् १.५.१७) इसी प्रकार लोकोक्ति है, 'अपने सनातन आत्मा को खोकर सम्पूर्ण विश्व को पाने से भी क्या लाभ होगा?'

प्राकृत कार्य तथा उनके फल देह के साथ ही समाप्त हो जाते हैं। परन्तु कृष्णभावनाभावित कर्म कर्ता को देहान्त के बाद फिर से कृष्णभावनाभावित बना देता है। कम से कम इतना तो निश्चित है कि पुनर्जन्म में उसे विद्वान् ब्राह्मण अथवा धनाढ्यों के कुल में मनुष्य देह की प्राप्ति होगी, जिससे भगवत्प्राप्ति का अवसर फिर सुलभ हो जायगा। यह कृष्णभावनाभावित कर्म की अनुपम विशेषता है।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥

अनुवाद

इस पथ के अनुगामी निश्चयात्मक बुद्धि से युक्त रहते हैं, उनका एक लक्ष्य होता है। परन्तु हे कुरुनन्दन! अस्थिर मति वालों की बुद्धि तो अनेक शाखाओं में विभक्त रहती है ॥४१॥

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।

वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥

कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।

क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥४३॥

अनुवाद

अल्पबुद्धि मनुष्य वेद के उन आलंकारिक वचनों में बहुत आसक्त रहते हैं, जिनमें स्वर्ग, उच्चकुल, ऐश्वर्य और भोगों को देने वाले नाना प्रकार के सकामकर्मों का विधान है। भोग और ऐश्वर्य की अभिलाषा के कारण ही वे ऐसा कहते हैं कि इससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है ॥४२-४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहतचेतसाम्।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥४४॥

अनुवाद

जो मनुष्य विषयभोग और लौकिक ऐश्वर्य में प्रगाढ़ आसक्ति के कारण इस प्रकार समोहित हो रहे हैं, उनके चित्त में भगवद्भक्ति का दृढ़ निश्चय नहीं होता ॥४४॥

तात्पर्य

‘समाधि’ का अर्थ चित्त की एकाग्रता से है। वैदिक शब्दकोष निरुक्ति के अनुसार सम्यगाधीयतेऽस्मिन्नात्मतत्त्वयाथात्म्यम् ‘आत्मतत्त्व में मनोयोग को समाधि कहा जाता है।’ जो इन्द्रियतृप्ति में आसक्त है अथवा अनित्य विषयों से विमोहित हो रहे हैं, उनके लिए समाधि कभी सम्भव नहीं हो सकती। उन्हें तो बस माया के चक्र में ही निरन्तर दण्डित किया जाता है।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥

अनुवाद

वेद मुख्य रूप से प्रकृति के तीनों गुणों का ही विषय करने वाले हैं। हे अर्जुन ! तू इन गुणों का उल्लंघन करके उनसे अतीत हो जा। सम्पूर्ण द्वन्द्वो और योगक्षेम की चिन्ता से मुक्त होकर आत्मपरायण (स्वरूपनिष्ठ) बन ॥४५॥

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।

तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥४६॥

अनुवाद

छोटे जलाशय से सिद्ध होने वाले सभी प्रयोजन बड़ी जलराशि से तुरन्त पूर्ण हो जाते हैं। इसी प्रकार, वेदों का आन्तरिक तात्पर्य जानने वाले के लिये उनके सब प्रयोजन पूर्ण हो जाते हैं ॥४६॥

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥

अनुवाद

तेरा अधिकार स्वधर्मरूप कर्म करने में ही है, कर्मफल में नहीं। तू कर्मफल का हेतु कभी न हो और कर्तव्य न करने में भी तेरी आसक्ति न हो ॥४७॥

तात्पर्य

यहाँ स्वधर्मरूप कर्म, विकर्म तथा अकर्म, ये तीन तत्त्व विचारणीय हैं। स्वधर्म उन कर्मों को कहते हैं, जो प्रकृतिस्थ अवस्था में शास्त्र के विधान के अनुसार किये जाते हैं। अनधिकारपूर्वक किया गया स्वेच्छामय कर्म ‘विकर्म’ कहलाता है तथा स्वधर्माचरण में प्रमाद ‘अकर्म’ है। श्रीभगवान् ने अर्जुन को निष्क्रिय न होकर

फलासक्ति के बिना स्वधर्मरूप कर्म करने का परामर्श दिया है। जिसकी कर्मफल में आसक्ति है, वही पुरुष कर्म का हेतु बनकर कर्मानुसार सुख-दुःख भोगता है।

स्वधर्म के तीन उपभेद हैं नित्य, आपात एवं सकाम कर्म। नित्यकर्म शास्त्र के निर्देशानुसार निस्पृह भाव से किये जाते हैं। अनिवार्य होने से ये नैमित्तिक कर्म सात्त्विक हैं। सकामकर्मों से बन्धन होता है, इसलिए ये कल्याणकारी नहीं हैं। मनुष्यमात्र का स्वधर्म में अधिकार है, परन्तु फल में आसक्ति के बिना ही कर्म करना चाहिए। इस प्रकार का निष्काम स्वधर्माचरण निस्सन्देह मुक्तिपथ की ओर ले जाता है।

अतएव श्रीभगवान् अर्जुन को फलासक्ति को त्याग कर कर्तव्य के रूप में युद्ध करने की आज्ञा देते हैं। उसका युद्ध से उपरत हो जाना भी आसक्ति का ही एक रूप है। आसक्ति के रहते मुक्तिपथ की प्राप्ति नहीं हो सकती। आसक्ति अनुकूल हो या प्रतिकूल, बन्धनकारी ही सिद्ध होती है। अकर्म पापमय है। अतएव कर्तव्य के रूप में युद्ध करना अर्जुन के लिए मुक्ति का एकमात्र कल्याणकारी मार्ग है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥

अनुवाद

हे अर्जुन। योग में स्थित होकर सिद्धि-असिद्धि में समान बुद्धि रखते हुए आसक्ति को त्याग कर स्वधर्मरूप कर्म का आचरण कर। मन का ऐसा समभाव ही योग कहलाता है ॥४८॥

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।

बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥

अनुवाद

हे धनजय। भक्तियोग के द्वारा सब प्रकार के निकृष्ट सकाम कर्मों से मुक्त होकर पूर्ण रूप से उसी बुद्धियोग की शरण हो जा। जिन्हे कर्मफल की वासना है, वे तो अत्यन्त दीन हैं ॥४९॥

बुद्धियुक्त जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥५०॥

अनुवाद

भगवद्भक्ति के परायण हुआ मनुष्य इसी जीवन में पुण्य और पाप, दोनों से

मुक्त हो जाता है। इसलिए हे अर्जुन ! इस भक्तियोग के लिए प्रयत्न कर, क्योंकि यही कर्म-कौशल है ॥५०॥

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।

जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥५१॥

अनुवाद

भक्तियोग के परायण विवेकी पुरुष श्रीभगवान् की शरण ले लेते हैं और ससार में ही कर्मफल को त्याग कर जन्म-मृत्यु के चक्र से सदा के लिए मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार उन्हें उस अनामय पद की प्राप्ति होती है, जो सब दुखों से परे है ॥५१॥

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।

तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥५२॥

अनुवाद

जब तेरी बुद्धि मोहरूपी सघन दलदल को पार कर जायगी, उस समय तू सुने हुए और जो सुनने योग्य है, उससे भी वैराग्य को प्राप्त होगा ॥५२॥

तात्पर्य

महाभागवतों के जीवन में ऐसे अनेक उत्तम उदाहरण उपलब्ध हैं, जिन्हें भगवद्भक्ति के द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड से वैराग्य हो गया। जब मनुष्य को श्रीकृष्ण का और उनसे अपने सम्बन्ध का तत्त्वबोध होता है, तो सकाम कर्मों से स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है, चाहे वह कुशल ब्राह्मण ही क्यों न हो। भक्तपरम्परा के महान् आचार्य श्री भाधवेन्द्र पुरीपाद का कथन है—

सन्ध्यावन्दन भद्रमस्तु भवतो भोः स्नान तुभ्यं नमो ।

भो देवाः पितरश्च तर्पणविधौ नाहं क्षमः क्षम्यताम् ॥

यत्र क्वापि निषद्य यादवकुलोत्तमस्य कंसद्विषः ।

स्मारं स्मारमघं हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

“हे त्रिकाल सन्ध्या-वन्दन ! तुम्हारी जय हो। हे स्नान ! तुम्हें प्रणाम है। हे देवपितृगण ! आपके लिए तर्पण करने में मैं अब असमर्थ हो गया हूँ। क्षमा करें। अब तो जहाँ भी मैं बैठता हूँ, यादवकुल-अवतंस कंसारि श्रीकृष्ण का ही स्मरण करता हूँ और इस प्रकार करते-करते सब पापों से मुक्त हो गया हूँ। मेरे लिए यही पर्याप्त है।”

त्रिकालिक सन्ध्या, प्रातःकालिक स्नान, पितृ तर्पणादि वैदिक कर्म कनिष्ठ साधक के लिए ही अनिवार्य हैं। पूर्णतया कृष्णभावनाभावित मति से श्रीकृष्णभक्ति में तत्पर हुआ भक्त इन कर्मों के प्रति बिल्कुल उदासीन हो जाता है, क्योंकि वह पहल हा कृतार्थ हो चुका है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से ज्ञान-लाभ कर लेने पर शास्त्रों में वर्णित तप-यज्ञादि आवश्यक नहीं रहते। दूसरी ओर, जो यह जाने बिना कि वेदों का लक्ष्य श्रीकृष्णप्राप्ति है, कर्मकाण्ड में तत्पर रहता है, वह केवल समय का अपव्यय करता है। कृष्णभावनाभावितभक्त तो वेद-उपनिषदों की परिधि, शब्दब्रह्म की सीमा का भी उल्लंघन कर जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।

समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥५३॥

अनुवाद

जिस समय तेरी बुद्धि वेदों की अलंकारमयी भाषा से विचलित हुए बिना स्वरूप-समाधि में ही अचल रहेगी, उस समय तुझे दिव्य बुद्धियोग की प्राप्ति हो जायगी ॥५३॥

अर्जुन उवाच ।

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत ब्रजेत किम् ॥५४॥

अनुवाद

अर्जुन ने कहा, प्रभो। कृष्णभावनाभावित स्थिरबुद्धि पुरुष के क्या लक्षण हैं, वह किस प्रकार बोलता है, उसकी भाषा क्या होती है, तथा वह किस प्रकार बैठता और चलता है ॥५४॥

श्रीभगवानुवाच ।

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्यार्थ मनोगतान् ।

आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥

अनुवाद

मंगलमय श्रीभगवान् ने कहा, हे पार्थ। जिस काल में यह जीव मन से उत्पन्न विषय वासना को सम्पूर्ण रूप से त्यागकर चित्त द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस समय इसे स्थिरबुद्धि कहा जाता है ॥५५॥

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥**

अनुवाद

जो तीनों प्रकार के दुःखों की प्राप्ति से उद्वेग को प्राप्त नहीं होता, सुख में स्पृहाशून्य रहता है, तथा जो आसक्ति, भय और क्रोध से मुक्त है, उसे स्थिरमति मुनि कहा जाता है ॥५६॥

तात्पर्य

मुनि उसे कहा जाता है, जो मनोधर्मी करने में मन को नाना प्रकार से उद्वेलित करने पर भी किसी तात्त्विक निष्कर्ष तक नहीं पहुँच सके। कहा जाता है कि प्रत्येक मुनि का भिन्न मत होता है; यहाँ तक कि जिस का मत अन्य मुनियों से भिन्न न हो, उसे तो सिद्धान्ततः मुनि कहा ही नहीं जा सकता। नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्। परन्तु जैसा भगवान् ने यहाँ वर्णन किया है, 'स्थिरबुद्धि' मुनि साधारण मुनियों से भिन्न है। स्थिरबुद्धि मुनि सदा कृष्णभावनाभावित रहता है, क्योंकि वह मनोधर्म की प्रवृत्ति को समाप्त कर चुका है। भेदबुद्धि का उल्लघन करके वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वासुदेव श्रीकृष्ण सर्वव्यापक हैं। वही स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है। ऐसा पूर्ण कृष्णभावनाभावित पुरुष त्रिविध दुःखों के आक्रमणों से विचलित नहीं होता। उन्हें अयाचित भगवत्कृपा समझता हुआ वह तो यही मानता है कि अपने पिछले पापों के लिए वह इससे कहीं अधिक दुःख उठाने के योग्य था। उसे अनुभूति होती है कि भगवत्कृपा से उसे नाममात्र के दुःख की ही प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार, सुख की प्राप्ति होने पर वह अपने को उस सुख के अयोग्य मानकर सारा श्रेय श्रीभगवान् को देता है। वह अनुभव करता है कि भगवत्कृपा के प्रताप से ही उसे ऐसी सुखमयी अवस्था मिली है, जिससे वह और अच्छी प्रकार से भगवत्सेवा करने योग्य हो गया है। इस प्रकार भगवत्सेवा के लिए वह सदा-सर्वदा साहसी तथा क्रियाशील रहता है। राग-द्वेष से लिपायमान नहीं होता। राग का अर्थ अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी वस्तु को स्वीकार करना है, जबकि ऐसी विषयैषणा का अभाव वैराग्य कहलाता है। परन्तु कृष्णभावनाभावित भक्त में न राग होता है और न वैराग्य ही; उसका तो पूरा का पूरा जीवन ही श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित रहता है। अतएव उद्यम के विफल होने पर भी उसे लेशमात्र क्षोभ अथवा क्रोध नहीं होता। कृष्णभावनाभावित भक्त नित्य कृतसंकल्प रहता है।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५७॥

अनुवाद

जो पुरुष सब ओर स्नेहरहित हुआ न तो शुभ की प्राप्ति से हर्षित होता और न अशुभ की प्राप्ति में शोक करता, वह पूर्ण ज्ञान में निष्ठ है ॥५७॥

तात्पर्य

प्राकृत-जगत् में नित्य-निरन्तर शुभ-अशुभ उथल-पुथल होती रहती है। जो इससे उद्वेलित नहीं होता, शुभ-अशुभ से अप्रभावित रहता है, उस पुरुष को कृष्णभावनाभावित जानना चाहिए। जब तक संसार में निवास है, तब तक शुभ-अशुभ की सम्भावना बनी रहेगी, क्योंकि यह जगत् द्वंद्वो से पूर्ण है। परन्तु कृष्णभावनाभावित अनन्य भक्त इनसे प्रभावित नहीं होता, उसका प्रयोजन एकमात्र श्रीकृष्ण से ही रहता है, जो सर्व मंगलमय है। यह कृष्णभावना शुद्ध सत्त्वमयी समाधि प्रदान करती है।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥

अनुवाद

जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, उसी भाँति जो पुरुष अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियविषयों से हटा सकता है, उसकी बुद्धि स्थिर है, अर्थात् वह यथार्थ में परम ज्ञानी है ॥५८॥

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥५९॥

अनुवाद

इन्द्रियतृप्ति का सयम करने से बद्धजीव के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु भोगों में आसक्ति बनी रहती है। उत्तम रस के अनुभव से उसकी भी निवृत्ति हो जाती है और बुद्धियोग की प्राप्ति होती है ॥५९॥

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥६०॥

अनुवाद

हे अर्जुन! इन्द्रियाँ इतनी बलवान् तथा वेगवती हैं कि उस विवेकी पुरुष के मन को भी बलपूर्वक हर लेती हैं, जो उन्हें वश में करने के लिए प्रयत्न कर रहा हो ॥६०॥

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥

अनुवाद

इसलिए सब इन्द्रियों का संयम करके भक्तियोग में लगकर मेरे परायण हो जाय। जो इस प्रकार इन्द्रियो को वश में करके अपनी बुद्धि को मुझ में एकाग्र करता है, वही मनुष्य स्थिरबुद्धि है ॥६१॥

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।

संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥

अनुवाद

इन्द्रियविषयों का चिंतन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से काम और फिर काम से क्रोध होता है ॥६२॥

तात्पर्य

जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं है, उसमें इन्द्रियविषयों के चिंतन से विषयभोग की इच्छा उत्पन्न हो जाती है। इन्द्रियो को कुछ न कुछ कार्य चाहिए। अतः यदि उन्हें भगवद्भक्ति में तत्पर नहीं रखा जायगा तो वे निश्चित रूप से भोगपरायण होना चाहेगी। अन्य स्वर्गीय देवताओं के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या, शिव-ब्रह्मा सहित प्राकृत-जगत् में जीवमात्र का इन्द्रियविषयों के प्रति आकर्षण है। इस प्राकृत प्रपञ्च से मुक्ति का एकमात्र मार्ग कृष्णभावनाभावित हो जाना है। शिव ध्यानमग्न थे, पर पार्वती द्वारा विषयभोग के लिए उत्तेजित किये जाने पर वे सहमत हो गये, जिससे कार्तिकेय का जन्म हुआ। तरुण भगवद्भक्त ठाकुर हरिदास को मूर्तिमान् माया देवी ने इसी प्रकार प्रलोभित किया था, परन्तु विशुद्ध कृष्णभक्ति के प्रताप से वे अनायास उस परीक्षा में उत्तीर्ण रहे। श्रीयामुनाचार्य द्वारा रचित पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, भगवान् के साथ दिव्यानन्द के आस्वादन का रसिक शुद्ध भक्त विषयभोग का सहज ही सम्पूर्ण रूप से परित्याग कर देता है। यही उसकी कृतार्थता का रहस्य है। अतएव जो कृष्णभावनाभावित नहीं है, वह बाह्य रूप से इन्द्रियों का कितना भी प्रबल दमन क्यों न करे, अन्त में निश्चित रूप से विफल ही

रहगा, क्योंकि विषय सुख का लेशमात्र चिन्तन भी उसे इन्द्रियतृप्ति के लिए उत्तेजित कर देगा।

क्रोधादभवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

अनुवाद

क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, स्मृति-भ्रम से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से ससारकूप में फिर से पतन हो जाया करता है ॥६३॥

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।

आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥

अनुवाद

जो पुरुष संयम का अभ्यास करता हुआ इन्द्रियो को वश में कर लेता है, वह पूर्ण भगवत्कृपा को प्राप्त करता है और इस प्रकार सब प्रकार के राग-द्वेष से मुक्त हो जाता है ॥६४॥

तात्पर्य

पूर्व श्लोकों में कहा जा चुका है कि इन्द्रियों को भगवत्सेवा में नियुक्त किये बिना किसी कृत्रिम पद्धति के द्वारा बाह्य रूप से इन्द्रियों का नियन्त्रण कर लेने पर भी पतन की पूर्ण सम्भावना रहती है। दूसरी ओर, पूर्णतया कृष्णभावनाभावित पुरुष बाह्य रूप से चाहे विषयों में ही संलग्न क्यों न दिखे, परन्तु कृष्णभावनाभावित होने से इन क्रियाओं में आसक्त नहीं होता। श्रीकृष्ण का सन्तोष करना कृष्णभावनाभावित पुरुष का अनन्य प्रयोजन है। अतएव वह सब प्रकार की आसक्ति से मुक्त रहता है। श्रीकृष्ण की इच्छा होने पर भक्त ऐसा कर्म करने में भी संकोच नहीं करता, जिसे सामान्यतः अवाञ्छनीय समझा जाता हो और यदि श्रीकृष्ण की इच्छा न हो तो वह उस कर्म को भी नहीं करेगा, जिसे अपने लिए सामान्य रूप से कर्त्ता हो। इसलिए किसी कर्म को करना या न करना पूर्ण रूप से उसके हाथ में है, क्योंकि वह श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार ही कर्म करता है। यह बुद्धियोग श्रीश्यामसुन्दर की अहैतुकी निरवधि अनुकम्पा का मूर्तरूप है, जिसकी प्राप्ति भक्त को इन्द्रियों में आसक्त होते हुए भी हो सकती है।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

अनुवाद

भगवत्कृपा के द्वारा बुद्धियोग से युक्त पुरुष के तीनों प्रकार के दुःख नष्ट हो जाते हैं। ऐसे प्रसन्नचित्त वाले की बुद्धि भी अतिशीघ्र स्थिर हो जाती है ॥६५॥

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥

अनुवाद

जो कृष्णभावना (बुद्धियोग) से युक्त नहीं है, उसका चित्त वश में नहीं होता और न ही बुद्धि स्थिर रहती है तथा जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, उसको शान्ति भी नहीं होती। शान्ति के बिना सुख तो किस प्रकार से होगा ? ॥६६॥

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।

तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥६७॥

अनुवाद

जिस प्रकार प्रचण्ड वायु जलगामी नौका का अपहरण कर लेती है, उसी भाँति जिस भी इन्द्रिय पर मन केन्द्रित हो, वह एक ही इन्द्रिय मनुष्य की बुद्धि को हर लेती है ॥६७॥

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥

अनुवाद

इसलिए हे महाबाहू ! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार से इन्द्रियविषयों से वश में की हुई हैं, उसी की बुद्धि निःसन्देह स्थिर है ॥६८॥

‘या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥६९॥

अनुवाद

जो सब जीवों की रात्रि है, उसमें आत्मसंयमी जागता है और सब प्राणी जिसमें जागते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिए वह रात्रि है ॥६९॥

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
 समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
 तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
 स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥

अनुवाद

जिस प्रकार नदियों के जल से नित्य भरते रहने पर भी समुद्र अचल रहता है, उसी भाँति जो कामनाओं के अविच्छिन्न प्रवाह से विचलित नहीं होता वही पुरुष शान्ति पा सकता है, कामनाओं की पूर्ति के लिये चेष्टा करने वाला नहीं ॥७०॥

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
 निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥७१॥

अनुवाद

जिम्ने इन्द्रियतृप्ति की वासना को सम्पूर्ण रूप से त्याग दिया है, जो सब प्रकार की इच्छा और ममता से मुक्त है तथा मिथ्या अहंकार को त्याग चुका है, वही पुरुष सच्ची शान्ति को पाता है ॥७१॥

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
 स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥७२॥

अनुवाद

यह दिव्य भगवत्परायण जीवन का पथ है, जिसको प्राप्त होकर फिर मोहित नहीं होता। अन्तकाल में भी इस प्रकार स्थित पुरुष भगवद्धाम को प्राप्त हो जाता है ॥७२॥

तात्पर्य

कृष्णभावना, अर्थात् भगवत्परायण जीवन की प्राप्ति होने को क्षणभर में हो सकती है और न होने को कोटि-कोटि जन्मों तक भी न हो। यह केवल इस सत्य को समझने और अंगीकार करने पर निर्भर करता है। खट्वांग महाराज ने देहान्त के कुछ क्षण पूर्व श्रीकृष्ण के शरणागत होकर इस कृतार्थ अवस्था को प्राप्त कर लिया था। 'निर्वाण' का अर्थ है विषयपरायण-जीवन की समाप्ति। बौद्ध दर्शन के अनुसार, इस प्राकृत जीवन के अन्त में केवल शून्य शेष रह जाता है, पर भगवद्गीता की शिक्षा इससे भिन्न है। यथार्थ जीवन का तो प्रारम्भ ही इस प्राकृत जीवन का अन्त हो जाने पर होता है। घोर विषयियों के लिए इतना जानना भी पर्याप्त होगा कि इस प्राकृत

जीवन का अन्त निश्चित है। परन्तु भक्त महानुभावों के लिए इस प्राकृत-जीवन के पश्चात् एक चिन्मय जीवन भी है। इस जीवन का अन्त होने से पूर्व यदि कोई सौभाग्यवश कृष्णभावनाभावित हो जाय, तो उसे तत्क्षण ब्रह्मनिर्वाण पद प्राप्त हो जाता है। भगवद्धाम तथा भक्ति में कुछ भी भेद नहीं है। अतएव भगवद्भक्ति में तत्पर होना भगवद्धाम में प्रवेश करने जैसा है। प्राकृत-जगत् में इन्द्रियतृप्ति विषयक क्रियाये घटती हैं, जबकि वैकुण्ठ-जगत् में केवल कृष्णभावनाभावित कर्म होते हैं। जो इसी जीवन में कृष्णभावनाभावित हो जाता है वह तत्काल ब्रह्मभूत स्तर पर पहुँच जाता है। इतना ही नहीं, कृष्णभावनाभावित पुरुष तो वास्तव में देहान्त से पूर्व ही भगवद्धाम में प्रविष्ट हो चुका है।

ब्रह्मतत्त्व प्रकृति के ठीक विपरीत है। अतः ब्राह्मी स्थितिः का अर्थ है 'प्राकृत क्रियाओं के स्तर से अतीत अवस्था।' भगवद्गीता में भगवद्भक्ति को ही मुक्तावस्था माना गया है। अतः भवबन्धन से मुक्ति का नाम ब्राह्मी स्थिति है।

श्री भक्तिविनोद ठाकुर के अनुसार भगवद्गीता का यह द्वितीय अध्याय सम्पूर्ण ग्रन्थ के प्रतिपाद्य-तत्त्व का सारांश है। भगवद्गीता के प्रतिपाद्य है 'कर्मयोग', 'ज्ञानयोग' तथा 'भक्तियोग'। द्वितीय अध्याय में सम्पूर्ण ग्रन्थ की अन्तर्वस्तु के रूप में 'कर्मयोग' तथा 'ज्ञानयोग' का विशद निरूपण है एवं भक्तियोग की अवतरणिका भी विज्ञापित है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

इति भक्तिवेदान्त भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥

